नवम्बर /दिसम्बर 2026

रूहानी रिश्ता

साइंस ऑफ़ द सोल रिसर्च सेंटर

विषय सूची

4 प्रेम और भक्ति
7 दो सतगुरु–एक सत्य: देहस्वरूप से परे
17 सीमाओं से आगे
23 संक्षेप में सत्य
24 हवा से भी तेज़ क्या है?
29 जीवन के प्रवाह के साथ चलना
34 कुम्हार और मिट्टी
41 विचार करने योग
42 आत्मा के प्रेम का इकरार
46 क्या आप प्याले से नाम रूपी दिव्य अमृत पी रहे हैं?
51 हमारी असीम क्षमता
54 अंतिम शब्द

रूहानी रिश्ता

Science of the Soul Research Centre
Guru Ravi Dass Marg, Pusa Road, New Delhi-110005, India

Copyright © 2026 Science of the Soul Research Centre®

बिना स्रोत के कुछ लेख और कविताएँ इस पत्रिका के लेखकों द्वारा लिखी गई हैं।

भाग 22 • अंक 6 • नवम्बर दिसम्बर 2026

प्रेम और भक्ति

सभी पूर्ण संतों ने यह उपदेश दिया है कि परमात्मा प्रेम-रूप है। प्रेम उसके अस्तित्व का आधार है और प्रेम ही उसके साथ मिलाप का सच्चा साधन है। प्रेम कहीं बाहर से नहीं मिलता। परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा के अंदर स्वाभाविक रूप से परमात्मा का प्रेम समाया हुआ है। वर्तमान अवस्था में यह प्रेम संसार के मोह, इंद्रियों के भोगों, विषय-विकारों के आकर्षण और कर्म-संस्कारों के मोटे परदों के नीचे दबा हुआ है। संतों की संगति, परमात्मा की भक्ति या नाम के अभ्यास का वास्तविक उद्देश्य अपने भीतर परमात्मा के प्रेम को जाग्रत करना है। जैसे ही जीवात्मा को संतों की संगति द्वारा परमात्मा के साथ अपने सच्चे संबंध का एहसास होता है और इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उसका निज-घर परमात्मा का परमधाम है और उसका असल स्वरूप मन-इन्द्रियाँ नहीं, बल्कि विशुद्ध आत्मा है; इसके अंदर परमात्मा का प्रेम अंकुरित हो जाता है।

जैसे-जैसे यह प्रेम फलीभूत होता है, वैसे-वैसे प्रेमी समर्पण की उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ वह अपने प्रियतम के लिए हर क़ुर्बानी देने को तैयार हो जाता है। तुलसी साहिब ने प्रेम के इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है:

आसिक इसक इसक आसिक से, करना मौत निसानी॥
मुरदा है करि खाक मिली अब, जब पट अमर लिखानी॥

तुलसी साहिब जब यह कहते हैं कि सच्चा आशिक़ ख़ुद को इश्क़ में क़ुर्बान कर देता है तब आपका भाव ख़ुदी या हौमैं के नाश से है। आप आशिक़ की इस अवस्था को बयान करते हुए कहते हैं: सच्चे आशिक़ को इस संसार की ओर से 'मुरदा' होना पड़ता है। इसका भाव यह है कि वह शरीर के नौ द्वारों को ख़ाली करके अपनी सुरत को ऊँचे आंतरिक जगत में ले जाता है। इसी अवस्था को संत-महात्माओं ने 'जीते-जी मरना' कहा है।

प्रेम ही प्रियतम के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करता है। प्रेमी भक्त कभी यह हिसाब नहीं रखता कि उसे उसकी भक्ति का क्या फल मिलेगा। जिस प्रेम में हिसाब रखा जाता है, वह प्रेम नहीं व्यापार है। प्रेमी केवल देना जानता है। वह प्रियतम से केवल प्रियतम को ही माँगता है। हिरदे नामक अपने शिष्य को प्रेमी भक्त का यही लक्षण बताते हुए तुलसी साहिब कहते हैं:

जब हिरदे यह भक्त कहावे। दास भाव स्वामी को चावे॥

तुलसी साहिब ने प्रेम से संबंधित अपनी संपूर्ण विचारधारा का विवरण इस प्रकार दिया है। आप समझाते हैं कि परमात्मा से मिलाप का साधन उसका प्रेम है। प्रेम की कशिश ही आत्मा को निज-धाम तक का लंबा सफ़र तय करने की शक्ति प्रदान करती है। परमात्मा स्वयं आत्मा के अंदर यह प्रेम पैदा करता है। फिर आत्मा पुकार उठती है, "मैं पिया की बलिहार प्यार मोहि से कियौ।"-निज-धाम पहुँचकर आत्मा को इस बात की सूझ हो जाती है कि वह स्वयं परमात्मा से प्रेम नहीं कर सकती थी। उस दयालु प्रियतम ने स्वयं उसके अंदर अपना प्रेम पैदा किया है और उसकी दया-मेहर से ही वह प्रेम और परम आनंद के धाम तक पहुँच सकी है।...

भक्ति

जिससे प्रेम हो, उसे प्रसन्न करना ही भक्ति है। प्रियतम को याद करना, बार-बार उसका ध्यान आना, उसकी महिमा करना, उसके आगे विनती करना, उसकी सेवा करना और उसकी आज्ञा का पालन करना ये सभी भक्ति के अंग हैं। भक्ति-भाव प्रेम से ही उत्पन्न होता है। जब प्रियतम के लिए प्रेम गहरा हो जाता है तो यह उससे मिलाप का साधन बन जाता है।...

भक्ति के बिना जीव का इस भवसागर से उद्धार नहीं हो सकता और न ही उसका आवागमन के चक्कर और मृत्यु के दु:खों से छुटकारा हो सकता है। इसीलिए संतों ने प्रेम और भक्ति पर बल दिया है। संतों की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से जीव के अहं भाव का नाश होने पर

भक्ति-भाव बढ़ता है। इसीलिए तुलसी साहिब ने भक्ति को तलवार की धार पर चलना कहा है क्योंकि इसका अर्थ है अहं-भाव का नाश है जोकि बहुत मुश्किल है।

भक्ति पदारथ सार, यह नर जग जाने नहीं॥
जग के बिषम बिकार, सो सब समझे साँच करि॥

तुलसी साहिब कहते हैं कि भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट हमारी यह ग़लत धारणा है कि इन्द्रियों के भोग और विषय-विकार सच्चे सुख का साधन हैं, हमें यह एहसास ही नहीं होता कि ये अस्थायी और छलावा-मात्र हैं; हम इनसे कभी भी शाश्वत सुख प्राप्त नहीं कर सकते। इसी तरह पूजा-भक्ति के बहिर्मुखी साधन जैसे कि रीति-रिवाज, पुण्य-दान, धर्म-ग्रंथों का अध्ययन, तीर्थ-यात्राएँ, जप-तप आदि हमारे ध्यान को परमात्मा की तरफ़ ले जा सकते हैं पर परमात्मा की पहचान नहीं करवा सकते। परमपिता परमात्मा की पहचान श्रद्धा और प्रेम से की गई अंतर्मुख भक्ति द्वारा ही हो सकती है जिसके फलस्वरूप आत्मा अंदर जाकर 'शब्द' में समाकर उसी का रूप बन जाती है।

तुलसी साहिब-सेंट ऑफ़ हाथरस से उद्धरित

दो सतगुरु–एक सत्य: देहस्वरूप से परे

राधास्वामी सत्संग ब्यास के संत–सतगुरु बाबा गुरिंदर सिंह जी ने सितंबर 2024 में, हुज़ूर जसदीप सिंह जी को आर.एस.एस.बी. की सभी सोसाइटियों के नए संरक्षक और संत–सतगुरु के रूप में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। सतगुरु ने उत्तराधिकारी चुनकर देहधारी रूहानी मार्गदर्शक की परंपरा को जारी रखा है जो कि संतमत की विचारधारा का आधार है।

ज़्यादातर शिष्य यह बात अच्छी तरह से समझते हैं कि नए संत–सतगुरु की नियुक्ति ख़ुशी मनाने का मौक़ा क्यों है। फिर भी, कई लोग पूछते हैं कि बाबा जी कहाँ हैं और सत्संग या सवाल–जवाब के सत्रों में उनकी मौजूदगी की उम्मीद रखते हैं। ये सवाल सिर्फ़ डेरा में ही नहीं, बल्कि बहुत–से अन्य सत्संग केंद्रों में भी किए जाते हैं। हालाँकि, अपने सतगुरु की कमी महसूस करना पूरी तरह स्वाभाविक है लेकिन सत्संग में हर बार उनके देहस्वरूप की मौजूदगी की उम्मीद रखने के अलावा हम किन तरीक़ों से अपना प्रेम और भक्ति–भाव ज़ाहिर कर सकते हैं, प्रस्तुत लेख इसी बारे में है।

हमारी समझ, विश्वास और करनी के बीच का फ़र्क़

रूहानी मार्गदर्शक का होना सभी आध्यात्मिक परंपराओं में अहम माना गया है। जिसने भी कभी किसी मैसिव ओपन ऑनलाइन कोर्स (MOOC) से सीखने की कोशिश की है, वह जानता है कि अपने दम पर कुछ नया सीखना कितना मुश्किल होता है। रूहानियत में भी बस ऐसा ही है; हमें एक देहधारी सतगुरु की ज़रूरत होती है जो इनसान की दयनीय दशा के बारे में समझा सके और सबसे महत्त्वपूर्ण, आत्मा को 'शब्द' से जोड़ने की युक्ति सिखा सके। भले ही देहधारी सतगुरु का होना बेहद ज़रूरी है, फिर भी सभी संत–महात्मा हमें बार–बार याद दिलाते हैं कि हमें उनके देहस्वरूप से अधिक लगाव नहीं रखना चाहिए क्योंकि सच्चा गुरु तो 'शब्द' है और शब्द से जुड़कर ही आत्मा सच्चा शिष्य बनती है।

हममें से बहुत-से लोग यह समझते हैं कि उन्हें पता है कि 'शब्द' ही सच्चा गुरु है लेकिन हमारा व्यवहार अकसर कुछ और ही ज़ाहिर करता है। यदि हम सच में इस बात को समझते तो हम ख़ुद से यह सवाल ज़रूर पूछते कि एक सतगुरु के मौजूद होते हुए भी हमें दूसरे सतगुरु की कमी क्यों महसूस होती है? हमारा दिल और हमारी आत्मा शायद जिस बात को ज़ाहिर करते हैं उसे हमारा मन अभी पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर पाया है: चूँकि 'शब्द' ही सच्चा गुरु है इसलिए किसी एक शब्द-स्वरूपी सतगुरु के साथ होना, किसी दूसरे शब्द-स्वरूपी सतगुरु की मौजूदगी में होने जैसा ही है। इस नज़रिए से देखें तो इस सवाल का उतना महत्त्व नहीं रह जाता कि कौन हमारे बीच मौजूद नहीं है। इसके बजाय, हमें तो इस बात के लिए आभारी होना चाहिए कि हम इस धरती पर मौजूद अरबों इनसानों में से उन चंद ख़ुशक़िस्मत लोगों में से हैं जिन्हें पूर्ण सतगुरु की संगति में बैठने का अवसर मिला है।

हममें से कुछ लोग सतगुरु को बहुत ऊँचे मुक़ाम पर रखते हैं और यह मानते हैं कि चूँकि उनका असल स्वरूप 'शब्द' ही है इसलिए वह सब में समाए हुए हैं। मत को भरम भुलै संसार की लेखिका एक तरीक़ा बताती हैं जिससे हम जान सकते हैं कि हमारा विश्वास पक्का और दृढ़ नहीं है:

> *हमारे विश्वास की सबसे अहम और एकमात्र कसौटी यह है कि क्या हम उनके हुक्म के मुताबिक़ भजन-सिमरन करते हैं? जिन्हें हम सतगुरु मानते हैं, अगर हम उनके दिए इस एक और सिर्फ़ एक हुक्म का पालन नहीं करते तो हम अपने विश्वास के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। हम केवल दिखावा कर रहे हैं कि हमें विश्वास है वरना सतगुरु के हुक्म का पालन न करने की गुस्ताख़ी कौन करेगा?*

ये शब्द पढ़ने में शायद अच्छे न लगें लेकिन अगर हम अपने अंदर झाँककर देखेंगे तो पाएँगे कि हममें से ज़्यादातर लोग ऐसा ही करते हैं। लेखिका हमारी आलोचना नहीं कर रही बल्कि हमें आईना दिखा रही हैं।

हममें से बहुत-से लोग सतगुरु के हुक्म को न मानने के बारे में सोच भी नहीं सकते लेकिन हमारा रोज़मर्रा का भजन-सिमरन कुछ और ही कहानी बयाँ करता है।

रोज़ाना भजन-सिमरन न करने के अलावा (बावजूद इसके कि सतगुरु चाहते हैं कि हम इसे करें) एक और बात हमारी कथनी और करनी के बीच के फ़र्क़ को साफ़ ज़ाहिर करती है। अगर सतगुरु 'शब्द' का रूप हैं तो तर्क की दृष्टि से वह जो भी कहते या करते हैं, हमें उसे मानना चाहिए। इस संदर्भ में, बाबा जी की अनुपस्थिति को लेकर हुज़ूर जी से किए गए सवाल पर उनके द्वारा दिया गया जवाब हमें दिखाता है कि कथनी और करनी में फ़र्क़ का न होना कैसा होता है। जब उनसे पूछा गया कि बाबा जी सत्संग में क्यों नहीं आए या वह कब आएँगे तब हुज़ूर जी का यह कहना कि मैं अपने सतगुरु से इस तरह का सवाल पूछने की हिम्मत नहीं कर सकता। उनका यह जवाब उनकी विनम्रता और बाबा जी के लिए उनके गहरे प्रेम को तो दर्शाता ही है, साथ ही हुज़ूर जी का जवाब हमें यह सिखाता है कि हमें ऐसे सवाल करना छोड़ देना चाहिए।

प्रेम की सर्वोत्तम करनी

अपने सतगुरु, जिन्होंने हमें नामदान बख़्शा है, के साथ ख़ास लगाव का होना क़ुदरती है और हम चाहते हैं कि उनकी ख़ुशी हासिल कर सकें। पैंतीस वर्षों से, बाबा जी हमें याद दिला रहे हैं कि सच्चा प्यार कथनी से नहीं बल्कि करनी से ज़ाहिर करना है। इसलिए अपने सतगुरु के प्रति प्यार को प्रकट करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि हम ईमानदारी से अपना भजन-सिमरन करें।

असल में, यदि हम नियमित रूप से अभ्यास करते हैं तो हो सकता है कि भजन-सिमरन करना जितना मुश्किल लग रहा हो, उतना ही हमारा प्रेम गहरा होता जा रहा हो। ऐसा क्यों? क्योंकि रूहानियत की प्रेरणा से भजन-सिमरन करना आसान हो जाता है। जब इसे करना मुश्किल लगे,

जब इसे करने का मन न करे, जब प्रेम की भावना ही महसूस न हो और ख़ालीपन का एहसास हो तब भी भजन-सिमरन करना ही सच्ची भक्ति है। चाहे मन भजन-सिमरन को छोड़ने या टालने के लिए कहता है, तब प्यार ही हमें बैठने, फिर से शुरू करने और इसे दृढ़ता से करते रहने की प्रेरणा देता है। हुज़ूर महाराज सावन सिंह जी ने सन् 1965 में छपे *स्पिरिचुअल लिंक* के लेख में दरियाई लाल कपूर जी को समझाते हुए फ़रमाया:

> *असल बड़ाई उस इनसान की है जो भजन-सिमरन के मुश्किल और नीरस लगने के बावजूद इसे करता है। एक घंटा किया गया ऐसा भजन-सिमरन कुल-मालिक की नज़रों में कहीं ज़्यादा अहमियत रखता है बजाय दस घंटे किए भजन-सिमरन के (जिसमें से रस आता है)। यही सतगुरु की असल सेवा है।*

भले ही हम इस भ्रम में रहें कि सतगुरु सिर्फ़ 'अच्छे' भजन-सिमरन को ही अहमियत देते हैं लेकिन हमें इस बात से तसल्ली मिल सकती है जो वह हमें लगातार याद दिलाते हैं कि असल में हमारी कोशिश मायने रखती है, न कि अच्छी तरह से किया गया भजन-सिमरन। यदि हमारा शरीर स्थिर नहीं रहता या इसमें दर्द होता है और फिर भी हम इसे जारी रखते हैं, तो यह कोशिश करना है। यदि हमारा मन भटकता है और फिर भी हम इसे सिमरन में लगाते हैं, यह भी कोशिश करना है। यहाँ तक कि यदि हम अभ्यास के दौरान सो जाते हैं और उठकर फिर से भजन-सिमरन शुरू कर देते हैं तो यह भी कोशिश करना ही है। असल में, जब दरियाई लाल कपूर जी ने भजन-सिमरन के दौरान मन को एकाग्र करने में असफल रहने पर अपनी निराशा और दुःख प्रकट किया तो महाराज सावन सिंह जी ने उन्हें यक़ीन दिलाया कि जिन्हें हम संघर्ष या कमियाँ समझते हैं, कुल-मालिक के लिए वह प्रेम से की गई करनी है। इस घटना का ज़िक्र करते हुए अपने लेख में दरियाई लाल कपूर जी ने बताया कि महाराज सावन सिंह जी ने उनसे रूमी की *मसनवी* की यह पंक्ति पढ़ने के लिए कहा था:

कुल-मालिक को हमारी असफलताएँ और नाक़ाम कोशिशें पसंद हैं। उसके लिए हमारी सफलता के बजाय सच्चे दिल से की गई नाक़ाम कोशिशें मायने रखती हैं। व्यर्थ लगने वाला प्रयास, सोए रहने से तो बेहतर है।

महाराज सावन सिंह जी ने इस बात को समझाने के लिए उस माँ का उदाहरण दिया जो अपने बच्चे को सीढ़ियाँ चढ़ना सीखते देख रही है। बच्चा दोनों हाथों से सीढ़ी की रेलिंग पकड़ता है, अपनी छोटी-सी टाँग ऊपर उठाता है और लड़खड़ाता है। बेशक़ अपनी इस कोशिश में बच्चा फिसलेगा ही, और हो सकता है कि वह निराश होकर बैठ जाए जबकि माता-पिता के लिए बच्चे द्वारा की गई कोशिश असफलता नहीं बल्कि ख़ुशी का मौक़ा है। माता-पिता इस बात को लेकर उतावले नहीं होते कि बच्चा झट से सारी सीढ़ियाँ चढ़ जाए बल्कि वे उसके हर लड़खड़ाते क़दम को बड़े प्यार और दुलार से देखते हैं। जब बच्चा दौड़कर सीढ़ियाँ चढ़ना सीख जाता है तब माता-पिता भी इस बारे में बेफ़िक्र हो जाते हैं।

इसी तरह, ऊपर दिए गए उद्धरणों द्वारा हमें समझ आती है कि जब तक हम तीसरे तिल तक नहीं पहुँच जाते, हमारा भजन-सिमरन भी उस बच्चे की कोशिशों जैसा ही है; जो शब्द-सतगुरु के लिए बहुत अहम है, हमारी अपूर्ण कोशिशों के बावजूद नहीं बल्कि इन्हीं की वजह से। मन के न मानने पर भी भजन-सिमरन के लिए बैठना, मन के भटकने के बाद इसे फिर से सिमरन में लगाना और कोशिश करते रहना - शब्द-सतगुरु के लिए ये हमारी कमियाँ नहीं हैं बल्कि ये तो प्रेम से की गई कोशिशें हैं जो उन्हें अच्छी लगती हैं।

फिर भी, किसी बात को समझ लेना और उसे करनी में ले आना दो अलग बातें हैं। भले ही हम यह मानते हों कि हमारी कोशिशों को प्रेम की करनी ही माना जाता है, फिर भी हममें से कई लोग कहीं न कहीं यह उम्मीद लगा लेते हैं कि 'अच्छे' भजन-सिमरन के फलस्वरूप हमें अंदर दर्शन हो जाएँगे, हमारे गुण प्रत्यक्ष दिखाई देंगे, हमारी कमियाँ दूर हो जाएँगी और

हम जीवन की समस्याओं की वजह से विचलित नहीं होंगे। जब हम अपने अभ्यास को इन कसौटियों पर आँकते हैं तब हमें एहसास होता है कि अपनी कोशिशों से अब तक हम यह सब हासिल नहीं कर पाएँ हैं। हालाँकि, गूढ़ सीख यह है कि हमारे भजन-सिमरन का मक़सद ये सब नहीं है और न ही ये सब इस बात का प्रमाण है कि हमारा भजन-सिमरन कारगर है।

भजन-सिमरन सबसे उत्तम सेवा है जो हम कर सकते हैं। सेवा का बुनियादी अर्थ देना है, लेना नहीं। सतगुरु को सबसे ज़्यादा ख़ुशी किसी ख़ास आंतरिक अनुभव से नहीं बल्कि हमारे नज़रिये में आए बदलाव से मिलती है। भजन-सिमरन को एक सौदा समझकर, इस उम्मीद से करने के बजाय कि हमें अंतर में सतगुरु के दर्शन होंगे, शब्द सुनाई देगा या प्रकाश दिखाई देगा, इसे भेंट समझकर समर्पण की भावना से करना चाहिए। भजन-सिमरन में हम सतगुरु को अपना समय, ध्यान, लगन और सर्वस्व (दिल, मन और आत्मा) समर्पित कर देते हैं। जब हम इस भाव से सब कुछ समर्पित कर देते हैं तब हमारी मुश्किलें भी प्रेम का इज़हार बन जाती हैं।

कृतज्ञता और मालिक की रज़ा में रहना

हमारे सतगुरु इस बात पर ज़ोर देते हैं कि कृतज्ञता (शुक्राना करना) ही रूहानियत की नींव है। अगर भजन-सिमरन मालिक के प्रति हमारे प्रेम को व्यक्त करने का ज़रिया है तो उनकी रज़ा में रहकर आभार व्यक्त करना भी उसी प्रेम का दूसरा रूप है। व्यावहारिक रूप से इसका मतलब यह है कि हम उनके हर फ़ैसले को स्वीकार करें, भले ही वह फ़ैसले हमारी मर्ज़ी के मुताबिक़ न हों। अगर सतगुरु सत्संग में आते हैं तो हमें उनके शुक्रगुज़ार होना चाहिए; अगर वे नहीं आते तो हमें इसे भी उनकी मौज समझना चाहिए।

जब सतगुरु (बाबा जी) सत्संग में नहीं आते, तो मन में निराशा होना क़ुदरती है। फिर भी, जब हमें सवाल पूछने का मौक़ा मिले, तो हमें थोड़ा रुककर यह सोचना चाहिए कि इस अवसर का सबसे बेहतर इस्तेमाल कैसे

किया जाए। बाबा जी के बारे में पूछने की वजह समझ आती है लेकिन क्योंकि वह अपनी मर्ज़ी के मालिक हैं इसलिए ऐसे सवालों से कुछ बदलने वाला नहीं है। इसके बजाय, हमें ऐसे सवाल पूछने चाहिएँ जिनसे रूहानी तौर पर हमारा भला हो सके और जिनसे संगत भी लाभ उठा सके।

सतगुरु की रज़ा में रहने का एक और तरीक़ा यह है कि हम हुज़ूर जी को बाबा जी के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार करें। भजन-सिमरन करने के साथ-साथ, सबसे सार्थक सेवा यही होगी कि हम निराश होकर हुज़ूर जी से बाबा जी की ग़ैर-मौजूदगी के बारे में सवाल न पूछें। ऐसे सवाल, चाहे वे सच्चे दिल से ही क्यों न पूछे गए हों, हमारा ध्यान हुज़ूर जी की मौजूदगी और उनके द्वारा दी जा रही रूहानियत की शिक्षा से भटका देते हैं। इसलिए, हमारा असल समर्पण हमारे सवालों में नहीं बल्कि हमारी ख़ामोशी और हमारे भजन-सिमरन में है। यह हमें खोई हुई भेड़ों की कहानी की याद दिलाता है।

कल्पना करें कि एक नया चरवाहा भेड़ों के झुंड की देखभाल की ज़िम्मेदारी लेता है। अगर पुरानी भेड़ें पुराने चरागाह में जाएँ और ठीक मार्ग पर चलें तो वे नए चरवाहे का काम आसान और सुखद बना देती हैं। लेकिन, अगर वही पुरानी भेड़ें पुराने चरवाहे की तलाश में पहाड़ियों पर भटकने लगें, तो नए चरवाहे की ज़िम्मेदारी दोहरी हो जाती है-उसे नए मेमनों को भी सँभालना पड़ता है और साथ ही खोई हुई पुरानी भेड़ों को ढूँढ़ने के लिए पहाड़ियों पर भी इधर-उधर दौड़ना पड़ता है।

विरह की तड़प से लाभ उठाना

रूहानियत मूल रूप से प्रेम और भक्ति का मार्ग है। युगों-युगों से इस मार्ग पर चलते हुए शिष्यों ने सतगुरु से जुदाई की गहरी पीड़ा को महसूस किया है। जैसा कि तुलसी साहिब पुस्तक के लेखक समझाते हैं कि यह पीड़ा कुल-मालिक द्वारा बख़्शी गई दात है:

जिस प्रकार प्रेम परमात्मा की दात है उसी प्रकार विरह भी उसी की दी हुई नेमत है। दरअसल विरह में ही प्रेम परिपक्व होता है। यह विरह की तड़प संसार की इच्छाओं को भस्म कर देती है। विरह में प्रेमी का रोम-रोम प्रियतम को याद करता है। विरह वह सीढ़ी है जो प्रेमी को प्रियतम के चरणों तक पहुँचा देती है।

इस तरह की सूझबूझ बहुत अहम है। हमें इस बात को लेकर सजग रहना होगा कि हम विरह की पीड़ा को सिर्फ़ जज़्बाती तौर पर ही महसूस न करते रहें बल्कि इसे आंतरिक बदलाव का ज़रिया बनाएँ। इसे ख़ुद पर हावी न होने देकर, क्यों न हम इसे अपनी रूहानी बेहतरी के लिए इस्तेमाल करें? उदाहरण के लिए, सत्संग में बाबा जी के मौजूद न होने पर अगर हमें उनकी कमी बहुत ज़्यादा महसूस हो रही हो तो यह एहसास करनी के लिए पुकार है। क्या हम अपने इन जज़्बातों को करनी में बदलने यानी शाम के समय थोड़ा ज़्यादा भजन-सिमरन करने के लिए तैयार हैं? उस समय के अलावा जो हम सुबह पहले ही भजन-सिमरन में लगा चुके हैं?

मन में यह शंका पैदा होने से पहले कि क्या हम ऐसा कर पाएँगे, हमें थोड़ा रुककर यह विचार करना चाहिए कि हम असल में कौन हैं? हमारा असल वजूद आत्मा है जो शब्द का ही रूप है और शब्द सर्वशक्तिमान है। इसके बाद हमें ख़ुद से यह सवाल पूछना चाहिए कि हमें क्या लगता है कि असल में कौन किसकी कमी महसूस कर रहा है? यह सोचना कि हमारा वजूद, हमारी ख़ुद की बनाई पहचान, सतगुरु के देहस्वरूप के लिए तड़प रही है, यह केवल मन का एक भ्रम है। जिस जुदाई को हम महसूस करते हैं, वह असल में हमारी आत्मा की 'शब्द' यानी दिव्य धुन से मिलाप की तड़प है जोकि सतगुरु के रूप में साकार है।

दुनिया-भर के सत्संग केंद्रों में निष्काम सेवा का जो अद्‌भुत नज़ारा देखने को मिलता है, वह शब्द के कार्यशील होने का प्रमाण है। अगर हमारा प्यार

सिर्फ़ शारीरिक या जज़्बाती होता तो इस तरह के निष्काम भाव को बनाए रखना लगभग नामुमकिन होता। हम अकसर कहते हैं, "सतगुरु ही सब कुछ कर रहे हैं।" लेकिन सतगुरु कौन हैं? सतगुरु शब्द हैं। और सेवा कौन कर रहा है? यह वही शब्द है जो हर सेवादार के ज़रिए सेवा कर रहा है।

चाहे हमने सबके साथ मिलकर सेवा में हिस्सा न भी लिया हो, फिर भी हमने यह देखा या अनुभव किया होगा कि सतगुरु के बाहरी दर्शनों के लिए हम किस हद तक चले जाते हैं। अपनी उम्र या बीमारी की परवाह किए बिना, अपने आराम और भूख-प्यास तक को भूलकर हम सुबह जल्दी उठकर सत्संग में सबसे आगे बैठने की कोशिश में रहते हैं और फिर घंटों तक सब्र के साथ इंतज़ार करते हैं, सिर्फ़ सतगुरु के देहस्वरूप की एक झलक पाने के लिए। प्यार की ख़ातिर हम इस असुविधा को भी ख़ुशी-ख़ुशी सह लेते हैं।

अगर हम सतगुरु के देहस्वरूप की झलक पाने के लिए ऐसा पक्का इरादा रख सकते हैं तो फिर ऐसी कोई वजह नहीं कि हम उसी दृढ़ संकल्प के साथ भजन-सिमरन न कर पाएँ। हो सकता है कि हम अपने अंदर जो दर्शन करना चाहते हैं वह हमें तुरंत प्राप्त न हों मगर पूरी ईमानदारी से किए गए अभ्यास से हम अपने आप सतगुरु के नज़दीक हो जाते हैं। हमारा भजन-सिमरन भले ही उतना अच्छा न हो पाए जितना हम करना चाहते हैं तब भी सिर्फ़ यह सोचकर कि हमने अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश की है, हमें सुकून और ख़ुशी महसूस होती है और इस तरह से अपने आप को समर्पित कर देने से आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी ख़ुद-ब-ख़ुद मिटने लगती है।

जो तड़प हम महसूस करते हैं, वह रूहानी मार्ग में कोई रुकावट नहीं है बल्कि एक न्योता है। हमारी जुदाई की हर टीस दरअसल भीतर आने के लिए शब्द-सतगुरु का बुलावा है जहाँ हम सच्चे सुकून का अनुभव कर सकें। हमें अनमोल तोहफ़े दिए गए हैं-देहधारी सतगुरु, कारगर युक्ति

और अब शायद विरह की दात ताकि हम भजन-सिमरन की अहमियत को समझकर इसे शिद्दत से करने लग जाएँ। पूछने लायक़ सवाल यह नहीं है, "वह कहाँ हैं?" बल्कि सवाल यह है, "क्या मैं नियमित रूप से भजन-सिमरन कर रहा हूँ?" अगर हम हर सुबह शांत मन से भजन-सिमरन करते वक़्त इस बात का जवाब ईमानदारी से दे सकें तो हम पाएँगे कि उनके और हमारे बीच की दूरी हमारी सोच से कहीं कम है और उस ख़ामोशी से परे जो प्यार हमारा इंतज़ार कर रहा है, वह हमारी उम्मीद से कहीं बढ़कर है।



सीमाओं से आगे

7 सितंबर, 1838 की सुबह उत्तरी इंग्लैंड के समुद्री तट की बर्फ़ीली और भयंकर तूफ़ानी लहरों में एक बहुत ही साहसिक बचाव अभियान हुआ। ग्रेस डार्लिंग नाम की एक नवयुवती ने संकट में फँसे हुए नाविकों की सहायता की और उन्हें सुरक्षित किनारे पर पहुँचाया। उसने अपने लाइटहाउस में अपने कमरे की खिड़की से एक जहाज़ के चालक दल और वहाँ मौजूद एक यात्री को ख़तरे में देखा। उसने अपने पिता से आग्रह किया कि उन्हें जहाज़ में फँसे हुए लोगों को बचाने की कोशिश करनी चाहिए। सुबह होते ही वे तूफ़ान का सामना कर सकने वाली अपनी एकमात्र साधारण नाव में बचाव कार्य के लिए निकल पड़े। उन दोनों ने मिलकर नौ लोगों की जान बचाई और इस साहसिक कार्य के बाद ग्रेस राष्ट्र की नायिका बन गई। उसकी बहादुरी की चर्चा आज भी बच्चों की कहानियों की किताबों में की जाती है। ऊँची लहरों, चिंतित चेहरों और इस साहसी लड़की की तस्वीरें आप ऑनलाइन देख सकते हैं।

कई बार ऐतिहासिक और प्रसिद्ध कार्यों के कारण दूसरे नेक कार्यों की तरफ़ लोगों का ध्यान नहीं जाता। फिर भी हम ग्रेस डार्लिंग जैसे इनसानों द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा इसलिए करते हैं क्योंकि वे हमारे अमूल्य सिद्धांतों को अपनी करनी से साकार करते हैं। ग्रेस ने वही किया जो हम सब करना चाहते हैं लेकिन असल ज़िंदगी में जिसे करना हमें बहुत मुश्किल लगता है। ख़ुद से पहले दूसरों के बारे में सोचकर, वह सीमाओं से बहुत आगे निकल गई।

किन सीमाओं से आगे? अपने कर्तव्य की सीमाओं से आगे और उस ज़माने के सामान्य नियमों से आगे क्योंकि उस दौर में बीस-इक्कीस साल की लड़की से बस यही उम्मीद की जाती थी कि वह एक आज्ञाकारी बेटी बने और नियमित रूप से चर्च जाए। किसी ने भी उससे यह उम्मीद नहीं की थी कि वह किसी की जान बचाने के लिए इतनी बहादुरी दिखाए। फिर भी वह मदद करने के लिए आगे आई। लड़की होने के बावजूद उसने नाव का चप्पू चलाया जिससे वह और उसके पिता लोगों की जान बचाने में

सफल हो सके। भयभीत कर देने वाली उन ऊँची लहरों के बीच इस कार्य को करने के लिए शारीरिक बल और साहस दोनों की ज़रूरत थी। इस तरह के क़दम उठाने के लिए दुनिया की सोच की परवाह न करते हुए इंसान की अपनी सोच सही और स्वतंत्र होनी चाहिए। सही सोच का मतलब है: ज़िम्मेदारी की भावना, दूसरों के प्रति सहानुभूति और बुनियादी नैतिक मूल्यों का होना। ऐसी सोच बातों से नहीं बल्कि कुछ कर दिखाने से ज़ाहिर होती है। इसी सोच की वजह से ग्रेस डार्लिंग ने हिम्मत दिखाई व बिना किसी झिझक के समुद्री तूफ़ान में फँसे लोगों की हालत देखते ही मदद के लिए आगे बढ़ी। उसने अपने कर्तव्य से कहीं आगे बढ़कर, अपने जीवन को जोखिम में डालकर उन सभी लोगों की मदद की जो तूफ़ानी लहरों में फँसे थे। उसने यह कार्य प्यार और ज़िम्मेदारी की भावना से प्रेरित होकर किया। उसके इस साहस और वीरता के लिए उसे आज भी याद किया जाता है।

हममें से बहुत कम लोग होंगे जिन्हें ग्रेस डार्लिंग की तरह किसी संकट का सामना करना पड़ा हो। हालाँकि रोज़मर्रा की ज़िंदगी की अपनी चुनौतियाँ हैं और उनसे निपटते समय हमें अकसर ऐसा लगता है कि 'सीमा से बढ़कर काम करना' ही असल में आगे बढ़ने का एकमात्र रास्ता है। आइए रोज़मर्रा की कुछ ऐसी ही स्थितियों पर नज़र डालते हैं।

जहाँ तक हमारी मान्यताओं का सवाल है, जब हम संतमत के रास्ते पर चलना शुरू करते हैं तब हमारे लिए इस पर क़ायम रहना हमेशा आसान नहीं होता। हममें से कुछ लोगों का जन्म सत्संगी परिवारों में होता है, जहाँ परिवार के सभी सदस्य शाकाहारी होते हैं; माता-पिता सत्संग में जाते हैं, भजन-सिमरन करते हैं और बच्चों को नामदान लेने के लिए प्रेरित करते हैं। लेकिन अगर हमारे हालात इससे अलग हों, फिर? जिनके साथ हम रहते हैं, अगर वे शाकाहारी न हों, वे किसी अन्य रूहानी मार्ग पर चलते हों या किसी पर भी नहीं, फिर? अगर ऐसा है, तो हमारी क्या प्रतिक्रिया होगी? ऐसे में हमें 19वीं सदी की उस साहसी लड़की से प्रेरणा लेनी चाहिए जिसने न सिर्फ़ डूबते हुए जहाज़ के चालक दल को बचाया बल्कि दूसरों

की सोच की परवाह न करते हुए अपने आत्म-विश्वास और साहस को बटोरकर 'सीमा से आगे बढ़कर काम किया।' हमें बनाया ही इस तरह गया है कि हम स्वाभाविक तौर पर जानते हैं कि मुश्किलों से कैसे निपटना है और विपरीत हालात को भी अपने अनुकूल कैसे बनाना है।

उदाहरण के लिए, ज़रा सोचिए, जब आपने ख़ुद से वायदा किया हो कि आप जल्दी से काम निपटाकर दो घंटे भजन-सिमरन करेंगे, लेकिन आपका जीवनसाथी चाहता है कि आप शाम का समय परिवार के साथ बिताएँ। या फिर, जब आपने हाल ही में शाकाहारी भोजन अपनाया हो, लेकिन आपकी माँ को लगता है कि आप को उनके द्वारा बनाया खाना पसंद नहीं है और वह उदास हो जाती है। दूसरों से अलग रास्ता चुनकर आप पहले ही 'सीमा से आगे' क़दम बढ़ा चुके हैं। अब आपको दूसरों के अधिकारों को समझते हुए और उनकी पसंद का सम्मान करते हुए एक क़दम आगे बढ़कर अपने लक्ष्य के प्रति भी ईमानदार रहना है। इसके लिए आपको बहुत समझदारी और धैर्य से काम लेना होगा। हो सकता है कि आपको अपनी एक ऐसी ख़ूबी का पता चले जिसके बारे में आप अब तक अनजान थे-बिना किसी का दिल दुखाए अपनी बात रखना-जैसे जब आप अपनी माँ को बताते हैं कि आपको उनके हाथ का बना खाना कितना पसंद है और आप उनके हाथ का बना पालक-पनीर खाना चाहते हैं। और हाँ, आपका जीवनसाथी भी यह सोचकर ख़ुश हो जाएगा कि भले ही आप आज की शाम अपने लिए समय निकाल रहे हैं लेकिन आपने कल परिवार के साथ बाहर जाने की योजना बनाई है।

इन सब उतार-चढ़ाव के बीच हमारे साथ एक अदृश्य पर सच्चा दोस्त मौजूद रहता है। वह हैं हमारे पूर्ण सतगुरु जिन्होंने हमें नामदान के लिए चुना और जो हमारे रूहानी सफ़र के अंतिम पड़ाव तक हमारे अंग-संग रहेंगे। अपने शब्द-स्वरूप में वह हमेशा हमारे अंग-संग होते हैं और हमें रोज़मर्रा के जीवन में हर पल इस बात को याद रखना चाहिए। देहस्वरूप में सतगुरु सवाल-जवाब के ज़रिए हमें अपनी परेशानियों और कठिनाइयों को बताने का मौक़ा देते हैं। वह हमें हमेशा यही नसीहत देते हैं कि हमें प्रतिकूल परिस्थितियों में तुरंत

प्रतिक्रिया देने के बजाय उनसे ऊपर उठना चाहिए। प्रतिक्रिया देने से हमारा मन विचलित और अशांत हो जाता है और ऐसी स्थिति मानो किसी तूफ़ानी समुद्र में फँस जाने जैसी है। इससे पैदा होने वाली नकारात्मकता हमें आपसी मनमुटाव और तनाव के कड़वे अनुभव में ही उलझाए रखती है। हालाँकि, अगर हम प्रतिक्रिया न दें, तो हम मज़बूत चप्पुओं वाली एक छोटी-सी नाव की तरह आगे बढ़ सकते हैं और 'सीमाओं से आगे जा सकते हैं।'

जब आपसी मतभेद इतने गहरे हो जाएँ कि समझौते या बदलाव की गुंजाइश ही न हो तब ऐसे हालात को परमात्मा की रज़ा मानकर ही 'सीमा से आगे' बढ़ा जा सकता है। अपनी उम्मीदों और चाहतों को छोड़कर, यह एहसास होने से कि जो कुछ हो रहा है, वह हमारे कर्मों की वजह से ही हो रहा है, हम स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वह अच्छी हो, बुरी हो या बहुत ख़राब हो। इस तरह हम अपनी निजी राय या विचारों से ऊपर उठ जाते हैं और हमारी मानसिक स्थिति बदल जाती है यानी हम मालिक के हुक्म में आ जाते हैं।

ईमानदारी से सोचें, तो क्या हम ज़िंदगी-भर यही करने की कोशिश नहीं करते? और क्या हमारे भीतर वह शक्ति नहीं है जो हमें ऊपर की ओर खींचती है। महाराज चरन सिंह जी *संत संवाद, भाग1* में फ़रमाते हैं:

> *मन जितना ज़्यादा निर्मल होता जाता है, उतना ज़्यादा शब्द या नाम से जुड़ता जाता है। यह जितना ज़्यादा निर्मल हो जाता है, इसमें उतनी ज़्यादा शक्ति और दृढ़ता आ जाती है। जितना ज़्यादा यह शब्द से दूर रहता है, उतना ज़्यादा यह इंद्रियों के अधीन होता है, उतनी इसकी इच्छाशक्ति कमज़ोर हो जाती है। मैं अकसर अर्ज़ करता हूँ कि हमारे मन और आत्मा की बैठक शरीर में आँखों के पीछे तीसरे तिल में है। मन का रुख़ जितना नीचे की तरफ़ होता जाता है, हमारी इच्छाशक्ति उतनी ही निर्बल होती है। जितना मन का रुख़ ऊपर की तरफ़ होता है, हमारी इच्छाशक्ति उतनी बलवान् हो जाती है। असल में दृढ़ता या इच्छाशक्ति हमें शब्द से ही प्राप्त होती है।*

अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश करने और मालिक की रज़ा में रहने से हम अंदर 'शब्द' रूपी शक्ति के क़रीब होते जाते हैं जो हमें अद्‌भुत तरीक़े से ऊपर की ओर खींचती है। बाबा जी अकसर ताश के पत्तों का उदाहरण देकर समझाते हैं कि समझदारी से लिए गए फ़ैसले जीवन में कितना अहम या बड़ा बदलाव ला सकते हैं। ताश की बाज़ी में हमें अच्छे पत्ते भी मिल सकते हैं और बुरे भी। यह तो क़िस्मत का खेल है जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। पर हमारे पास चाहे जैसे भी पत्ते आए हों, फ़र्क़ तो इस बात से पड़ता है कि हम उन पत्तों के साथ कैसी बाज़ी खेलते हैं।

संतमत बहुत सीधा और सरल मार्ग है, इसमें सतगुरु की हिदायत के अनुसार नियमपूर्वक भजन-सिमरन करना और दिन-भर परमात्मा को याद करना शामिल है। साथ ही इसमें शुद्ध शाकाहारी भोजन करना जिसमें दूध और दूध से बने पदार्थ भी शामिल हैं, शराब और मादक पदार्थों से दूर रहना और नैतिक जीवन जीना शामिल है। हालाँकि हममें से बहुत से लोग यह भली-भाँति महसूस करते हैं कि इसे कहना जितना आसान है, निभाना उतना ही कठिन है। हम अपने ही कर्मों की तूफ़ानी लहरों में घिरे और फँसे हुए हैं बिलकुल वैसे ही जैसे उत्तरी सागर की तूफ़ानी लहरों में ग्रेस डार्लिंग फँसी थी। हमें अपने प्यारे सतगुरु के साथ मिलाप के लक्ष्य को सामने रखकर और संतमत के उसूलों का पालन करते हुए आगे बढ़ना है। अपना रूहानी सफ़र जारी रखते हुए ही हम इस विकराल भवसागर को पार कर सकते हैं।

रूहानी नज़रिए से देखें तो सही मार्गदर्शन के नियम वे चार सिद्धांत हैं, जिनका मक़सद इनसानी कमज़ोरियों पर क़ाबू पाने में मदद करना है ताकि हम अपनी मंज़िल पर पहुँच सकें। इसके अलावा, हम सामाजिक प्राणी हैं और किसी न किसी काम में व्यस्त ही रहना चाहते हैं, इसलिए सतगुरु हमें अपने ख़ाली समय को सेवा में लगाने के लिए प्रेरित करते हैं। वह समय अब बीत चुका है जब सतगुरु के सेवकों की गिनती इतनी कम होती थी कि उन्हें सतगुरु की निजी सेवा का मौक़ा मिल जाता था। मगर अब हम

सत्संग-केंद्रों या संगत के लिए किए गए किसी भी कार्य को सतगुरु की सेवा करने जितना ही अहम समझ सकते हैं। जब सेवा ईमानदारी और प्यार के साथ व उस कार्य के लिए नियुक्त किए सेवादार की हिदायतों के अनुसार की जाती है तब सतगुरु हमारे अंग-संग होते हैं। ऐसा करके हम सतगुरु के साथ अपना रिश्ता और मज़बूत कर रहे होते हैं जो हमें क़ुदरती तौर पर भजन-सिमरन की ओर खींचता है ताकि हम उनकी मौजूदगी को महसूस कर सकें।

इंसान पर आस-पास के माहौल का असर बहुत जल्दी पड़ता है जिसकी वजह से कभी-कभी वह अपने नेक इरादों को भूल जाता है। इसीलिए सतगुरु हमें नियमित रूप से सत्संग में जाने की नसीहत देते हैं, जहाँ हमारा ध्यान संत-महात्माओं के उपदेश की तरफ़ जाता है और हम समान सोच रखने वाले सत्संगियों के संपर्क में आते हैं। सतगुरु इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि हम अच्छे इंसान बनें तथा हमारी करनी में दया और करुणा का भाव झलके। ज़िंदगी की चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ने के ये तरीक़े हमारे ध्यान को सतगुरु पर केंद्रित करने और साथ ही अधिक एकाग्रता से ढाई घंटे भजन-सिमरन करने में हमारी मदद करते हैं। सेवा और सत्संग से लगातार जुड़े रहने पर जो आत्म-अनुशासन हममें दिखाई देता है, वह एक स्पष्ट संदेश और जवाब है-"तुम यह कर सकते हो" और "हाँ, मैं कर सकता हूँ।"

इस संसार के पथरीले किनारे से दूर हमारी यह छोटी-सी नाव-जिसमें हमारा भरोसा, हमारी कोशिश, हमारा अभ्यास और इन सब से बढ़कर हमारे सतगुरु की दया-मेहर शामिल है-लहरों का सामना करते हुए सही दिशा में निरंतर आगे बढ़ती रहेगी जब तक कि हम हर मुश्किल को पार करके उस किनारे पर नहीं पहुँच जाते जहाँ हम पूरी तरह से सुरक्षित हैं।



संक्षेप में सत्य

आदि में शब्द था और शब्द परमात्मा के पास था, और शब्द ही परमात्मा था। आदि में वही परमात्मा के साथ था। सब कुछ उसी ने रचा; जो कुछ रचा गया उसमें से कुछ भी ऐसा नहीं है, जो उसने न रचा हो।

गॉस्पल ऑफ़ सेंट जॉन 1:1

***

सबका आदि और अन्त शब्द है। सब स्थूल तत्त्व, आकाश आदि, सूक्ष्म तत्त्व या तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब शब्द ही हैं। जो कुछ है शब्द ही है, इसलिए उससे जो कुछ प्रकट हो वह भी शब्द के सिवाय और क्या हो सकता है। शब्द हमें पैदा करनेवाला है, वह हमारा आधार है। हम शब्द के हैं और शब्द हमारा है। गुरुवाणी बतलाती है कि शब्द कुल-मालिक है।

महाराज सावन सिंह जी, *गुरुमत सिद्धान्त, भाग पहला*

***

१ओ सत नाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकाल मूरत अजूनी सैभं गुर प्रसाद॥

जपुजी साहिब

हवा से भी तेज़ क्या है?

भारत का प्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य 'महाभारत' पाँच पांडव भाइयों की कहानी है जो अपना राज्य हार जाते हैं। वे अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ तेरह वर्ष का वनवास भोगते हैं। इस वनवास के दौरान एक घटना का वर्णन आता है: युधिष्ठिर जो पाँच पांडवों में से सबसे बड़े थे, एक झील के पास पहुँचते हैं और जैसे ही वह पानी पीने लगते हैं, उन्हें एक यक्ष की रोबदार आवाज़ सुनाई देती है जो झील का स्वामी होने का दावा करता है। यक्ष युधिष्ठिर से कहता है, "तुम तब तक इस झील से पानी नहीं पी सकते जब तक तुम मेरे सवालों का जवाब नहीं दे देते।" फिर यक्ष के सवालों का सिलसिला शुरू हो जाता है और युधिष्ठिर उनके सवालों के उत्तर तुरंत देते जाते हैं।

यक्ष की पहेलियाँ युधिष्ठिर के ज्ञान की परीक्षा नहीं हैं बल्कि आत्म-ज्ञान की कसौटी हैं। वे यह जाँचती हैं कि क्या युधिष्ठिर सच्चे धर्म और ब्रह्मांडीय व्यवस्था के नियमों को समझते हैं और सबसे अहम बात यह है कि क्या वह अपने जीवन में उन नियमों का पालन करते हैं? युधिष्ठिर तुरंत उत्तर देते हैं इसलिए नहीं कि उन्हें रटे-रटाए तथ्य याद हैं बल्कि इसलिए कि उन्हें पहले से ही सत्य का ज्ञान था। जिज्ञासु होने के नाते हम इन पुराने सवालों से क्या सीख सकते हैं?

यक्ष द्वारा पूछे गए कई सवालों में से एक सवाल यह भी था कि "हवा से भी तेज़ क्या है?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया, "मन।" यह जवाब हमें तुरंत समझ में आ जाता है क्योंकि हम मन की आदत से वाक़िफ़ हैं। किसी काम को एकाग्र होकर करते हुए मन को किसी पुराने अपमान, भविष्य की किसी चिंता, किसी गहरी दबी इच्छा या रातों की नींद उड़ा देनेवाले डर का ख़याल आ सकता है। जब सब कुछ सही चल रहा होता है और कोई चिंता भी नहीं सता रही होती तब भी मन की कभी ख़त्म न होनेवाली बकबक की वजह से हम अपने अंदर शांति महसूस नहीं कर पाते। यह परख करता है, तुलना करता है, वही पुरानी बातें दोहराता है, योजनाएँ बनाता है और

तर्क-वितर्क भी करता है। सृष्टि के आरम्भ से ही हमने मन को बाहर भटकने की आदत डाल दी है। फलस्वरूप, अपने फैले हुए ध्यान को अंदर की ओर मोड़ना अजीब और अस्वाभाविक लगता है।

यह मन जो हर समय बाहर की तरफ़ भागता रहता है, यही मन हमेशा और अधिक पाने की लालसा भी करता है। शायद इसीलिए यक्ष ने सवाल-जवाब के दौरान युधिष्ठिर से एक और सवाल पूछा, "वह क्या है जो सुख के मार्ग में बाधा है?" युधिष्ठिर का जवाब था-"लालच।" इसी सवाल को अगर हम दूसरे ढंग से पूछें जैसे कि "सच्चा सुख क्या है?" तो शायद हमारा जवाब होगा, "संतोष।" लेकिन शायद यहीं पर हममें से बहुत-से लोग चूक जाते हैं। हम सुख को इस बात से नहीं जोड़ते कि हमारे पास क्या है बल्कि उन चीज़ों से जोड़ लेते हैं जो हमारे पास नहीं हैं। जब हमारी कोई इच्छा पूरी हो जाती है तब हम बहुत ख़ुशी महसूस करते हैं लेकिन वह ख़ुशी या संतोष ज़्यादा देर तक क़ायम नहीं रहता। फिर मन में कुछ और हासिल करने की चाहत पैदा हो जाती है: हमें लगता है कि यदि हम थोड़ा और, कुछ और, बस यह बदलाव ले आए तो हम संतुष्ट हो जाएँगे। जब हम तुलना करने लग जाते हैं तो जो कभी पर्याप्त लगता था, वह कम लगने लगता है और मन में असंतोष की भावना पैदा होने लगती है।

अगर संतोष में ही सुख है तो यह इतना दुर्लभ क्यों है? क्योंकि चंचलता मन का स्वभाव है। यह किसी भी कष्ट और अधूरी इच्छा को तो आसानी से नहीं भुला पाता लेकिन जो असल में मायने रखता है, उसे आसानी से भुला देता है। यही कारण है कि यक्ष का आख़िरी सवाल मन में गूँजता रहता है: "दुनिया में सबसे बड़ा अजूबा क्या है?" युधिष्ठिर जवाब देते हैं कि हम हर रोज़ लोगों को मरते देखते हैं, फिर भी हमें लगता है कि मौत शायद दूसरों के लिए है, हमारे लिए नहीं है। इस सवाल का मतलब हमें उदास करना नहीं बल्कि इसका उद्देश्य हमें सचेत करना है कि हम नश्वर हैं। जब हम भूल जाते हैं कि हम नश्वर हैं तब जीवन छोटी-छोटी उपलब्धियों और

कभी न ख़त्म होनेवाली चाहतों को पूरा करने की दौड़ बन जाता है। जब हम मृत्यु को याद रखते हैं तब प्राथमिकताएँ ख़ुद-ब-ख़ुद बदल जाती हैं।

हालाँकि हमारा चंचल मन और इसकी वजह से हमें जो सहना पड़ता है, वह बिना वजह नहीं है बल्कि उसका आधार कर्म-सिद्धांत का गूढ़ नियम है। संत-महात्मा समझाते हैं कि कर्मों का क़ानून दुनिया को संचालित करता है। जिस मंशा से हम कोई काम करते हैं, वह हमारे मन पर एक छाप छोड़ जाता है। शरीर मर जाता है पर कर्मों का लेखा-जोखा ख़त्म नहीं होता। जब आत्मा शरीर से निकलती है तो इस पर पिछले कर्मों और अधूरी इच्छाओं का बोझ होता है जिनकी वजह से इसे फिर से नए शरीर में जन्म लेना पड़ता है। यहाँ तक कि पुण्य भी हमें कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं कर सकते; पुण्य भी उतने ही बंधनकारी होते हैं जितने कि पाप। हमारी समस्या यह है कि हम किए हुए कर्मों के नतीजे से बच नहीं सकते। चाहते तो हम यह हैं कि हमें मनमर्ज़ी से कर्म करने की आज़ादी मिल जाए लेकिन असल में हमें कर्मों के बंधन से मुक्ति चाहिए।

यही कारण है कि संत-महात्मा हमें बार-बार याद दिलाते रहते हैं कि मनुष्य-जीवन दुर्लभ है। हमें किसी भी योनि में जन्म मिल सकता था लेकिन फिर भी मालिक की अपार दया से हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है। साथ ही हमें स्वयं की पहचान और सजग रहकर अपने ध्यान को अंदर की ओर मोड़ने का सामर्थ्य भी बख़्शा गया है। स्वास्थ्य, परिवार और काम-काज ज़रूरी हैं पर ये जीवन के असल मक़सद नहीं हैं। हमारा असल मक़सद वापस अपने मूल में समा जाना है।

जब हम आत्म-निरीक्षण करते हैं तो मन को यह एहसास होता है कि अपनी चंचलता और कभी न ख़त्म होनेवाली तृष्णाओं की वजह से यह कर्मों के जाल में बहुत बुरी तरह से फँस गया है जबकि यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म कर्मों के इस जाल से मुक्त होने का अनमोल मौक़ा है। मन बदलाव का संकल्प तो ले लेता है लेकिन यह सिर्फ़ अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा ऐसा नहीं कर सकता। मन जिसका स्वभाव ही चंचलता है वह सिर्फ़

ख़ुद से वायदा करके सदा के लिए स्थिर कैसे हो सकता है? यही कारण है कि संत-महात्माओं ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि इसके लिए एक मार्गदर्शक का होना ज़रूरी है। जिस तरह किसी भी मुश्किल काम में महारत हासिल करने के लिए उस्ताद का होना ज़रूरी है, उसी तरह चंचल मन को सिर्फ़ किताबें पढ़कर, दृढ़ संकल्प द्वारा या दूसरों के अनुभवों के आधार पर नहीं जीता जा सकता। इसके लिए देहधारी सतगुरु की ज़रूरत होती है जो आत्मा को मन की सूक्ष्म चालों से सुरक्षित बाहर निकालने के लिए हमारा मार्गदर्शन कर सकें। मन बहुत चालाक है, यह रूहानियत का ढोंग कर सकता है, कल्पना को ही अनुभव समझ सकता है और थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके अहंकार से भर सकता है। देहधारी सतगुरु ही हमें इस तरह के धोखों से बचाकर असल सच्चाई से जोड़े रखते हैं।

देहधारी सतगुरु कोई जादूगर नहीं हैं जिन्हें दुनियावी इच्छाएँ पूरी करने के लिए भेजा गया है। उनका मक़सद इससे कहीं बड़ा और महत्त्वपूर्ण है-एक ऐसी व्यावहारिक युक्ति समझाना जिससे आत्मा, आंतरिक दिव्य ध्वनि 'शब्द' से फिर से जुड़कर धीरे-धीरे मन के चंगुल से बाहर निकल सके। यह युक्ति हमें नामदान के समय समझाई जाती है। इसे सीखने के बाद हमारा सिर्फ़ एक ही लक्ष्य होना चाहिए-अपने फैले हुए ख़याल को इकट्ठा करके उसे अंदर की ओर मोड़ना। इसके लिए हमें पाँच नाम का सिमरन करना है। मन को पहले से ही इच्छाओं, चिंताओं और तर्क-वितर्क करते रहने की आदत पड़ी हुई है। हमें बख़्शा गया सिमरन मन की इस आदत के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि इसके अनुरूप काम करता है। यह मन को दुनियावी सिमरन करने से रोकने के बजाय सतगुरु की शक्ति से भरपूर पाँच नाम के सिमरन में लगा देता है।

शुरू-शुरू में, बाहर भटकते मन को रोककर एक बार सिमरन करना भी नामुमकिन लगता है। फिर भी, उसे बार-बार वापस लाना अपने आप में साधना है। जब मन, भले कुछ देर के लिए ही सही, एकाग्र होने लगता है तब हम भजन-सिमरन के दूसरे भाग की ओर मुड़ते हैं यानी उस

'शब्द-धुन' को सुनने की कोशिश करते हैं जो कि पहले से ही हमारे अंदर गूँज रही है। 'शब्द-धुन' कोई ऐसी धुन नहीं है जिसे हम बना या रच सकते हैं। यह केवल तब सुनाई देती है जब मन स्थिर होता है और हमें यह स्थिरता सिमरन द्वारा ही प्राप्त होती है। जब आत्मा 'शब्द-धुन' से जुड़ जाती है तो 'शब्द-धुन' आत्मा की मलिनताओं को साफ़ करके इसके कर्मों के भण्डार को जलाकर राख कर देती है।

संत-महात्माओं का संदेश स्पष्ट है: समय सीमित है, मन चंचल है और यह अवसर दुर्लभ है। हमें सच्चे दिल और पूरे धैर्य के साथ सतगुरु के उपदेश पर अमल करते हुए उस 'शब्द-धुन' को सुनने का अभ्यास करते रहना है जिससे उन्होंने हमें जोड़ा है। मन चाहे हवा से भी तेज़ दौड़े लेकिन शब्द उससे कहीं अधिक शक्तिशाली है और सतगुरु का दया-मेहर भरा हाथ सदा शिष्य के सिर पर होता है जो उसे सही मार्ग दिखाता है।

जीवन के प्रवाह के साथ चलना

अलग-अलग परंपराओं में हुए संत-महात्मा हमेशा से रूहानी सच्चाइयों को समझाने के लिए प्रकृति से उदाहरण देते आए हैं। उनमें से सबसे ज़्यादा लिया जानेवाला रूपक 'पानी' है। उदाहरण के लिए, 'जीवन देनेवाले जल' का वर्णन हज़ारों वर्ष पुराने धार्मिक ग्रंथों में मिलता है। यह परमात्मा की सृजनात्मक शक्ति यानी 'शब्द' (वर्ड) का प्रतीक है जिसका ज़िक्र मध्य पूर्व से लेकर दक्षिण एशिया तक की अनेक रूहानी परंपराओं में आता है। प्रतीक के रूप में पानी हमें रूहानियत के कई अन्य पहलुओं के बारे में भी समझाता है। इस लेख में हम पढ़ेंगे कि पानी हमें मन, परमात्मा की दया-मेहर को ग्रहण करने की क्षमता और जीवन के प्रवाह के साथ सहज भाव से बहने के बारे में क्या सिखाता है।

पानी शक्तिशाली भी है और सुंदर भी। यह हमें जीवन देता है और हमारे आसपास की दुनिया को आकार। पानी अपने स्वच्छ और शुद्ध रूप में साफ़ और चमकता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, पहाड़ों से बहने वाला पानी इतना पारदर्शी होता है कि नदी के तल में पड़े हर पत्थर और कंकड़ को आसानी से देखा जा सकता है। लेकिन जब तूफ़ान आते हैं और तेज़ हवाओं के कारण नदी का तल गँदला हो जाता है, इसमें मिट्टी और गंदगी मिल जाती है तो जो प्रकाश पहले नदी की गहराई तक पहुँचता था वह अब नीचे तक नहीं पहुँच पाता। मगर यदि पानी को कुछ समय के लिए शांत और स्थिर होने दें तो मिट्टी और गंदगी धीरे-धीरे नीचे बैठ जाती है और पानी फिर से साफ़ और निर्मल हो जाता है।

हमारा मन भी बिलकुल पानी की तरह है। जब हम अपनी इच्छाओं, चिंताओं या क्रोध में उलझ जाते हैं तब हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और हमें ऐसा लगने लगता है कि हम पर अब परमात्मा की दया-मेहर नहीं रही। ऐसा नहीं है कि परमात्मा की दया-मेहर नहीं हो रही होती बल्कि हमारा मन ही इतना अशांत होता है कि वह हमें महसूस नहीं होती। पहाड़ों

से निकलने वाला झरना हमें सिखाता है कि मिट्टी को पानी में से निकालने के लिए ज़्यादा कोशिश करने की ज़रूरत नहीं होती; जब पानी स्थिर हो जाता है तब मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जाती है। ठीक इसी तरह, हमें अपने विचारों से उलझने या उन्हें ज़बरदस्ती रोकने की ज़रूरत नहीं है। जब हम अपनी चिंताओं को छोड़ देते हैं और शांत होकर बैठ जाते हैं तब क़ुदरती तौर पर स्पष्टता आ जाती है। और जब हमारा मन स्थिर हो जाता है तब उस परमात्मा का नूर स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

इनसान के अंदर परमात्मा से मिलाप की क़ुदरती इच्छा है। कभी-कभी हम इस ओर ध्यान नहीं देते या इसे दबा देते हैं लेकिन यह फिर से उभर आती है। मिसाल के तौर पर जब हम किसी नवजात शिशु को अपनी गोद में लेते हैं तब हमारे अंदर कोई चीज़ परमात्मा के साथ उस असल नज़दीकी को महसूस करती है और उसके लिए तड़प उठती है।

जैसे-जैसे हमारी उम्र बढ़ती है, हमारा मन दुनिया के कोलाहल में इतना खो जाता है कि आत्मा की अपने असल से मिलाप की क़ुदरती पुकार हमें सुनाई ही नहीं देती। आज इंटरनेट और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) के कारण हर दिशा से पल-भर में जानकारी हमारे पास पहुँच जाती है। यदि हम सावधान न रहें तो लगातार मिलने वाली यह जानकारी हमारा ज्ञान बढ़ाने के बजाय हमारे मन में उथल-पुथल पैदा कर सकती है। इतना ही नहीं, ये तकनीकें धीरे-धीरे हमें हर समय कुछ नया देखने और जानने की आदत डाल देती हैं। हमारा ध्यान बार-बार एक स्क्रीन से दूसरी स्क्रीन की ओर आकर्षित होता है। इस तरह हम धीरे-धीरे अपने भीतर की स्वाभाविक शांति से दूर होते जाते हैं।

फिर भी, किसी भी समय में हुए हर इनसान के लिए जीवन के प्रवाह के विपरीत चलने के बजाय इस प्रवाह के साथ चलने में ही समझदारी है। नर्सरी में बच्चों को सिखाई जानेवाली कविता भी यही संदेश देती है:

धीरे-धीरे अपनी नाव चलाओ, सहजता से धारा के साथ बहते जाओ।
हँसते-हँसते, मुस्कुराते-मुस्कुराते, ज़िंदगी सिर्फ़ एक स्वप्न है।

यह कविता हमें प्रेरणा देती है कि जीवन के उतार-चढ़ाव के विपरीत खड़े होने के बजाय हमें उन्हें शांत भाव से स्वीकार करना चाहिए और सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। लेकिन हम फिर से जीवन को शांतमय और सहज ढंग से कैसे जिएँ? मन को निर्मल और स्थिर कैसे करें? अलग-अलग परंपराओं में हुए संत-महात्मा समझाते हैं कि किसी पूर्ण जीवित सतगुरु द्वारा समझाई गई भजन-सिमरन की युक्ति इसका अचूक उपाय है। भजन-सिमरन द्वारा अपने ध्यान को तीसरे तिल पर केंद्रित करने से मन निश्चिंत, निर्मल और पहले से अधिक एकाग्र होने लगता है। धीरे-धीरे हमें अपने अंदर परमात्मा की मौजूदगी का एहसास होने लगता है। यही 'सुरत-शब्द योग' का मार्ग है। महाराज चरन सिंह जी *संतमत प्रकाश* में लिखते हैं: "मन को निर्मल करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है प्रेम और भक्ति के साथ पाँच नाम के सिमरन द्वारा शरीर के नौ द्वारों को ख़ाली करना।"

इन मायनों में, भजन-सिमरन पवित्र जल जैसा है। जैसे जल हर वस्तु को स्वच्छ और तरोताज़ा कर देता है वैसे ही भजन-सिमरन द्वारा मन निर्मल हो जाता है और इसकी मौलिक पवित्रता लौट आती है। ऐसा होने पर, हमें अपने जीवन में रूहानी शांति और अपने अंदर परमात्मा की मौजूदगी और दया-मेहर का अनुभव होने लगता है। अंग्रेज़ी भाषा में एक कहावत है: "शांत जल गहरा होता है।"

जल हमें समर्पण करने और परमात्मा की रज़ा में रहने का अहम सबक़ सिखाता है। जल का क़ुदरती गुण है कि इसे जिस भी पात्र में डाला जाता है यह उसी का आकार ले लेता है और कभी अपने अलग आकार को क़ायम रखने लिए हठ नहीं करता। जब कोई जलधारा अपने मार्ग में किसी बड़ी चट्टान से टकराती है तो वह उससे संघर्ष नहीं करती और न ही रुकती है; बस अपना रास्ता बदलकर आगे बढ़ जाती है। क्या हम भी जीवन की कठिनाइयों का सामना ऐसी समझदारी के साथ नहीं कर सकते? जिस प्रकार हर जलधारा का अंतिम लक्ष्य समुद्र में समाना होता है उसी प्रकार हमारी

आत्माएँ भी अपने असल घर की ओर खिंची चली जाती हैं–परमात्मा के उस दिव्य रूहानी स्पंदन 'शब्द' की ओर।

महाराज चरन सिंह जी संत संवाद, भाग3 में फ़रमाते हैं: "अगर लहरों के विपरीत तैरने लगेंगे तो डूब जाएँगे। अगर आप धारा के साथ-साथ तैरेंगे तो आसानी से किनारे तक पहुँच जाएँगे।" हमारा समय और ऊर्जा सीमित है, इसलिए हमें जीवन के असल उद्देश्य की ओर ध्यान देने की प्रेरणा दी जाती है–अपनी आत्मा की पहचान करके परमात्मा की पहचान करना। भजन-सिमरन इस उद्देश्य को पूरा करने में हमारी सहायता करता है। यह मन को निर्मल करता है, हृदय को निश्चल बनाता है और जीवन की धारा के विरुद्ध चलने के बजाय हमें उसी की दिशा में बहना सिखाता है। इस प्रकार बच्चों की इस कविता का एक नया अर्थ हमारे सामने आता है। यह हमें याद दिलाती है कि जीवन की नाव को सहजता से चलाएँ, प्रसन्नचित्त होकर आगे बढ़ें और इस बात को हमेशा याद रखें कि सुखों और चुनौतियों से भरा यह जीवन सिर्फ़ एक स्वप्न है। हम सच में ख़ुशक़िस्मत हैं कि ज़िंदगी के इस सफ़र में हमारे दिल में सतगुरु का प्रेम झलक रहा है और हमारे मार्ग को रोशन कर रहा है।

फिर भला हम सबसे अधिक ख़ुश क्यों न हों?

सतगुरु सँभाल कर रहे हैं

सच्ची बात तो यह है जब हम तीसरे तिल पर आते हैं, तभी हमें एहसास होने लगता है कि सतगुरु हमारी सँभाल कर रहे हैं। असल में सतगुरु जन्म से ही हमारी सँभाल करते हैं। वे लोग जो संतमार्ग पर आ गए हैं, उनकी सँभाल तो सतगुरु जन्म से ही करने लगते हैं, वे उन्हें कभी इतना नहीं भटकने देते कि उनको मार्ग पर वापस न ला सकें। आपने पतंग उड़ानेवाले को पतंग उड़ाते हुए देखा होगा। वह डोर को ढीला छोड़ता जाता है, लेकिन जब उसे लगता है कि पतंग उसके क़ाबू से बाहर जा रही है तो वह उसे वापस खींच लेता है। वह कभी पतंग से नज़र नहीं हटाता और उसे

आसमान में सीधा रखते हुए उसकी डोर खींचता रहता है। जब हम अंतर में एक बार सतगुरु के दर्शन कर लेते हैं, तभी हमें यह एहसास हो पाता है कि हमारी सँभाल हो रही है। तब हमें यक़ीन हो जाता है कि हमारी सहायता हो रही है, हमारी सँभाल हो रही है। उससे पहले हमें इस बात का एहसास नहीं होता।

हुज़ूर महाराज चरन सिंह जी, संत संवाद, भाग3



कुम्हार और मिट्टी

रूहानी मार्ग का मक़सद हमारे भीतर बदलाव लाना है। जो इनसान देहधारी सतगुरु से नामदान लेता है, वह धीरे-धीरे जीवन में पूर्णता की अवस्था तक पहुँच सकता है। भीतर आने वाले इस बदलाव को अलग-अलग नज़रिए से समझा जा सकता है लेकिन इस लेख का केंद्रीय विषय परमात्मा की रज़ा है। सिक्ख धर्म में परमात्मा की रज़ा को 'हुक्म' कहा जाता है जबकि दूसरी परंपराओं में इसे अलग-अलग लफ़्ज़ों से पुकारा जाता है। लफ़्ज़ चाहे कोई भी हो, बात एक ही है-यह सृष्टि परमात्मा की रज़ा के अनुसार चलती है। हमारे रूहानी सफ़र में इस रज़ा को पहचानना, इसे स्वीकार करना और अंत में पूरी तरह इसके आगे समर्पण करना शामिल है।

'हुक्म' क्या है?

जपुजी साहिब में 'हुक्म' के कई अर्थ और पहलू बताए गए हैं। *जपुजी साहिब* की पहली पउड़ी में गुरु नानक देव जी 'हुकमि रजाइ' द्वारा इस पहलू पर प्रकाश डालते हैं कि परमात्मा कोई अचेत शक्ति नहीं है बल्कि यह एक परम चेतन स्व:इच्छा वाली शक्ति है। जब हम बिजली जैसी अचेत शक्ति के साथ परमात्मा की रज़ा की तुलना करते हैं तो इसकी अहमियत स्पष्ट हो जाती है। इसे इस तरह समझा जा सकता है: बिजली बहुत शक्तिशाली होती है लेकिन उसमें चेतना नहीं होती। वह यह तय नहीं कर सकती कि किस दिशा में या क्यों बहना है। इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञाता है और अपनी मौज का मालिक है। वह अपनी मर्ज़ी के अनुसार निर्णय लेता है और अपने ज्ञान द्वारा उन्हें पूरा करता है। जैसा कि मध्यकाल में हुए संत नामदेव ने कहा है, "सभो हुकमु हुकमु है आपे॥" दूसरे शब्दों में, हर मनुष्य, हर प्राणी, यहाँ तक कि एक पत्ता भी उसके 'हुक्म' के बिना नहीं हिलता। कुछ भी इस हुक्म से बाहर नहीं है।

गुरु नानक देव जी समझाते हैं कि 'हुक्म' परमात्मा की सचेत रज़ा होने के साथ ही उन नियमों और क़ानूनों की ओर भी संकेत करता है जिनके द्वारा उसकी रज़ा इस सृष्टि में प्रकट होती है। जपुजी साहिब की तीसरी पउड़ी में गुरु नानक देव जी फ़रमाते हैं: "हुकमी हुकम चलाए राह।" यानी कि परमात्मा के हुक्म से ही पूरी सृष्टि अपने निर्धारित मार्ग पर चलती है। यहाँ 'हुक्म' से भाव उन भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक नियमों से है जो सृष्टि का संचालन करते हैं। ये नियम अचानक ही नहीं बन गए बल्कि परमात्मा ने इन्हें सोच-समझकर बनाया है। परमात्मा की रज़ा है कि नैतिक जीवन में भी हमारे ऊपर कर्म और फल का नियम लागू हो। सरल शब्दों में: जैसा हम बोएँगे, वैसा ही हम काटेंगे।

इसी 'हुक्म' के मुताबिक़ हमारा प्रारब्ध निर्धारित होता है और उसे हमें भोगना ही पड़ता है। यह हमें थोड़ा सख़्त, संवेदना रहित और निष्ठुर लग सकता है। इससे हमारे मन में बेबसी की भावना भी पैदा हो सकती है। लेकिन संत-महात्मा समझाते हैं कि परमात्मा का हुक्म उसकी अपार दया और प्रेम से परिपूर्ण है। वह जो भी करता है, उसी में जीवात्मा की भलाई होती है। 'हुक्म' में रहने का अर्थ है कि सुख और दु:ख दोनों को परमात्मा की रज़ा मानकर समान भाव से स्वीकार किया जाए। संत-महात्मा समझाते हैं कि यदि हम अपने सुखों को तो परमात्मा की दया-मेहर मानें लेकिन दु:खों को उसका हुक्म मानने से इंकार कर दें तो हम पूर्ण रूप से आज्ञाकारी नहीं हैं। सुख और दु:ख दोनों को समान भाव से देखना ही 'हुक्म' को पूर्ण रूप से मानना है। ईसाइयों द्वारा की जानेवाली प्रार्थना: "तेरी इच्छा के अनुसार हो" का यही मतलब होता है।

हालाँकि सिर्फ़ यह जान लेने से कि पूरी सृष्टि 'हुक्म' के अनुसार चलती है, हमारे अंदर रूहानी तौर पर कोई बदलाव नहीं आ जाता। सिर्फ़ यह समझ लेने से कि हमारा जीवन परमात्मा के बनाए कर्म के नियम के अनुसार चल रहा है, हमारे लिए ज़िंदगी के हालात को स्वीकार करना आसान नहीं हो जाता। असल में, हमारा घटनाओं को 'अच्छी' या 'बुरी'

श्रेणी में बाँटना ही यह दर्शाता है कि अभी तक हमने सही मायनों में 'हुक्म' में रहना सीखा ही नहीं है। बुद्धि के दायरे से आगे बढ़कर 'हुक्म' में रहकर जीवन बिताने के लिए देहधारी सतगुरु का होना ज़रूरी है।

'हुक्म' में कैसे रहें?

जब किसी शिष्य को देहधारी सतगुरु से नामदान मिल जाता है तो सतगुरु अपने नूरी स्वरूप में उसके अंदर विराजमान हो जाते हैं और बदलाव लाने में जीवन के हर पड़ाव पर रहनुमाई करते हैं। सतगुरु कुम्हार की तरह होते हैं। जैसे कुम्हार अपना एक हाथ मिट्टी के बर्तन के अंदर रखकर उसे सहारा देता है जबकि उसका दूसरा हाथ बाहर से उसे आकार देता है। जीवन में जो कुछ भी होता है उसके पीछे कोई न कोई वजह होती है। अलग-अलग तरह के अनुभवों के ज़रिए सतगुरु शिष्य के अहंकार को धीरे-धीरे कम करते हैं क्योंकि यही अहंकार आत्मा जोकि असल शिष्य है और सतगुरु के नूरी स्वरूप के बीच जुदाई का भ्रम पैदा करता है।

शिष्य का कर्तव्य है कि वह सतगुरु के आगे समर्पण कर दे ताकि सतगुरु उसे जो बनाना चाहते हैं, वह बना सकें। महाराज चरन सिंह जी *संत संवाद*, भाग3 में इसका अर्थ समझाते हुए फ़रमाते हैं: "अपनी हौमैं और मैं-मेरी की भावना को ख़त्म कर देना ही समर्पण है। जब तक आत्मा मन के अधीन है तब तक आत्म-समर्पण नहीं हो सकता।" आप आगे विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि आत्मा, जो परमात्मा का अंश है, इस समय मन के अधीन है और मन इंद्रियों के अधीन है। इसका अर्थ है, "इंद्रियाँ मन की मालिक बनी हुईं हैं और मन आत्मा का मालिक बना हुआ है। जब तक यह सारा सिलसिला उलट नहीं जाता यानी इंद्रियाँ मन के नियंत्रण में और मन आत्मा के अधीन नहीं हो जाता, हम क्या समर्पित कर सकते हैं?"

यही इस विषय का सार है। सच्चा समर्पण जिसे सतगुरु 'शरण' कहते हैं तभी मुमकिन है जब आत्मा धीरे-धीरे मन पर क़ाबू पा लेती है और अंतत:

अपने भीतर सतगुरु के नूरी स्वरूप का दर्शन करती है। महाराज चरन सिंह जी हमें इस अवस्था को प्राप्त करने की युक्ति समझाते हैं:

असल समर्पण, जिसे हम 'शरण' कहते हैं, को प्राप्त करने के लिए नामदान के समय बताए गए नियमों का और उस समय दी गई हिदायतों का पालन करना ज़रूरी है। हमें पूरी ईमानदारी के साथ संतमत के उसूलों पर चलना है और भजन-सिमरन को वक़्त देना है। यही एक तरह से सतगुरु के प्रति समर्पण है और यही समर्पण अंतर में बिना किसी शर्त के किये गये समर्पण का साधन बनेगा।

इस प्रकार धीरे-धीरे मन आत्मा के अधीन होने लगता है। फिर नामदान के समय समझाई गई ध्यान की युक्ति द्वारा साधक को अंदर सतगुरु के नूरी स्वरूप के दर्शन होने लगते हैं। महाराज सावन सिंह जी प्रभात का प्रकाश में फ़रमाते हैं:

जब हम ध्यान की इस विधि में सफल हो जाएँगे तो सतगुरु का नूरी स्वरूप हमारे अन्दर प्रकट हो जाएगा और आंतरिक यात्रा में हमारी रहनुमाई करेगा। इसके बाद हमें अपनी मंज़िल पर पहुँचाने की ज़िम्मेदारी उसकी हो जाती है और वह अंदर हर क़दम पर हमारा मार्गदर्शन करता है। यह नूरी स्वरूप अंत में शब्द के साथ, जो कि उसका ही असली स्वरूप है, एक हो जाता है।

सच्चे समर्पण की शुरुआत त्याग करने की घोषणा से नहीं होती बल्कि संतमत के चार मूल सिद्धांतों का पूरी निष्ठा से पालन करने से होती है-शुद्ध शाकाहारी भोजन करना जिसमें दूध भी शामिल है; हर तरह के मादक पदार्थों से दूर रहना; अच्छे इनसान बनने की कोशिश करना; हर रोज़ ढाई घंटे भजन-सिमरन करना। इन चारों में भजन-सिमरन इंजन की तरह सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सिर्फ़ इसी के ज़रिए मन इंद्रियों के भोगों से मुँह

मोड़कर रज़ा में राज़ी रहना सीखता है। लेकिन सही मायनों में 'हुक्म' में रहने के लिए संतमत के इन चार सिद्धांतों का पालन करने के साथ-साथ हमारे अंदर हर हालात को सहज भाव से स्वीकार करने की सच्ची भावना भी होनी चाहिए। इसमें अपने प्रारब्ध को सतगुरु का भाणा मानकर स्वीकार करना भी शामिल है-चाहे वह मीठा हो या कड़वा।

जब हम अपने प्रारब्ध को स्वीकार नहीं करते तब हम परमात्मा के हुक्म के ख़िलाफ़ जा रहे होते हैं। लेकिन जब हम उसे कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हैं, तब हम परमात्मा की मर्ज़ी के मुताबिक़ चल रहे होते हैं। परमात्मा के हुक्म में रहने के इसी भाव को समझाने के लिए महाराज चरन सिंह जी इनसानी प्रेम की मिसाल देते हैं। आप फ़रमाते हैं, "हम हमेशा वही करने की कोशिश करते हैं जो दूसरे को भाता है। हम दूसरे को अपने मुताबिक़ ढालने की, अपनी बात मनवाने की कोशिश नहीं करते, बल्कि अपने आप को उसके मुताबिक़ ढालते हैं। हम हमेशा दूसरे की मरज़ी के मुताबिक़ ढल जाते हैं।... रूहानी प्रेम में भी यही बात लागू होती है।" लेकिन फिर भी हुक्म को स्वीकार करने का यह नज़रिया सिर्फ़ अपनी कोशिशों से नहीं आता। यह सतगुरु के प्रति गहरे प्रेम से पैदा होता है और यह प्रेम भजन-सिमरन द्वारा ही बढ़ता है।

हम जितनी ईमानदारी और लगन से भजन-सिमरन करते हैं, उतना ही हम सच्चे आंतरिक समर्पण के क़रीब हो जाते हैं। असल में, संत-महात्मा भजन-सिमरन को समर्पण के लिए सिर्फ़ तैयारी नहीं मानते बल्कि वे भजन-सिमरन को ही समर्पण मानते हैं। महाराज चरन सिंह जी फ़रमाते हैं: "जो भी वक़्त हम भजन-सिमरन में लगाते हैं, समझो उस वक़्त हम ख़ुद को उसे समर्पित करने की कोशिश में लगे होते हैं। हम ख़ुद को परमपिता परमेश्वर के हवाले करने की कोशिश कर रहे हैं और केवल यही सच्चा समर्पण है।"

धीरे-धीरे हमारे भीतर बदलाव आने लगता है। हर रोज़ किया गया भजन-सिमरन हमें परमात्मा की दया-मेहर को ग्रहण करने के अधिक लायक़ बनाता जाता है। जैसे-जैसे हमारी ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती है, वैसे-वैसे हमारा अहंकार भी कम होने लगता है और हम अपने जीवन में होने वाली घटनाओं को अधिक सहजता से स्वीकार करने लगते हैं। फिर हम उन्हें 'अच्छा' या 'बुरा' कहकर नहीं आँकते और न ही उन पर प्रतिक्रिया देते हैं।

जब हम रज़ा में राज़ी रहने की इस अवस्था तक पहुँच जाते हैं तब हमें इस गूढ़ सत्य का एहसास होता है कि वह कुल-मालिक ही एकमात्र कर्ता है। जब हम इस सत्य को जान जाते हैं कि हम कर्ता नहीं बल्कि उस शब्द-रूपी परमात्मा के हाथ की कठपुतलियाँ हैं तब हमारे अंदर किसी भी कार्य का श्रेय लेने का अहंकार ख़त्म हो जाता है। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर हम निष्काम-भाव से कर्म करते हैं-बिना किसी स्वार्थ और फल की इच्छा के। फलस्वरूप हम नए कर्मों के बंधन में नहीं बँधते। लेकिन इस बात का एहसास हो जाने में एक विरोधाभास भी है। असल में, निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखें तो न तो हम अपनी इच्छा से इस मार्ग पर चल सकते हैं और न ही अपनी कोशिश से परमात्मा की रज़ा में राज़ी रह सकते हैं। हमारा समर्पण भी सिर्फ़ परमात्मा की दया-मेहर से ही संभव है।

महाराज चरन सिंह जी समझाते हैं, "जब हम अंतर में सतगुरु के दर्शन करके अपने आप को भूलकर, उनकी मौज में, उनके प्रेम में खो जाएँगे तब हमें ऐसा महसूस होगा कि हम सतगुरु का रूप बन गए हैं और हमारी अपनी हस्ती ख़त्म हो गई है।"

हम परमात्मा रूपी कुम्हार के चाक पर चढ़ी हुई मिट्टी की तरह हैं। सतगुरु रूपी कुम्हार हमें अपने हाथों से गूँथकर मुलायम बना रहे हैं। वह हमें मिट्टी के एक साधारण ढेले से एक सुंदर पात्र (बर्तन) में बदल रहे हैं।

यह पात्र अंदर से ख़ाली होता है, इसमें झूठा अहंकार नहीं रहता। लेकिन यह ख़ाली पात्र असल में ख़ाली नहीं होता; इसमें जगह होती है। पात्र के भीतर के रिक्त स्थान की तुलना आत्मा से करते हुए मांडूक्य उपनिषद् इस बात की ओर संकेत करता है कि पात्र के भीतर दिखाई देता सीमित-सा आकाश असल में पात्र के बाहर चारों ओर फैले अनंत आकाश से अभिन्न होता है। इसी प्रकार, जब सतगुरु इस पात्र को अंदर से ख़ाली करते हैं तब वह सत्य प्रकट होता है जो असल में कभी सीमित था ही नहीं।

आत्मा बदलती नहीं है। यह असीम है, सदा शब्द के साथ अभेद है।



विचार करने योग

क्या यह घंटी की आवाज़ है?



आत्मा के प्रेम का इकरार

हम ऐसी दुनिया में रहते हैं जो हमारे ध्यान को निरंतर बाहर की ओर खींचती है। हमारा मुख्य मक़सद अकसर धन-दौलत, सम्मान और ऊँचा रुतबा प्राप्त करना होता है। हम अपने दिन कड़ी मेहनत से अपने काम-काज करने और अपने प्रियजनों की देखभाल में ही बिता देते हैं। समय के साथ, हम यह मानने लग जाते हैं कि ज़िंदगी का उद्देश्य यही सब करना है लेकिन क्या वाक़ई ऐसा है?

जब हम पैदा होते हैं तब हमारा अपने माता-पिता, मित्रों या अध्यापकों-किसी न किसी से नाता जुड़ जाता है। ये संबंध महत्त्वपूर्ण हैं। ये हमारी ज़िंदगी को मक़सद देते हैं और हमारे जीवन के निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। लेकिन फिर भी, शायद ही हम कभी सोचते हों कि जब एक दिन ये सब रिश्ते ख़त्म हो जाएँगे तब क्या होगा? सब रिश्ते-नाते अस्थाई हैं, यहाँ तक कि हमारे सबसे क़रीबी रिश्ते भी जिन पर हम निर्भर हैं। यदि वे हमें छोड़ जाएँ या निराश करें तो हम कहाँ जाएँ?

संत-महात्मा हमें समझाते हैं कि एक ऐसा रिश्ता है जो हमेशा साथ निभाता है, वह है आत्मा और परमात्मा का रिश्ता। दुनियावी रिश्तों की तरह यह रिश्ता ज़रूरतों, उम्मीदों और हालात पर निर्भर नहीं है। इस रिश्ते का आधार प्यार है और यह तब भी क़ायम रहता है जब बाक़ी सारे रिश्ते ख़त्म हो जाते हैं। पाँचवीं पातशाही, गुरु अर्जन देव जी इस सत्य को प्रकट करते हुए फ़रमाते हैं:

तूं मेरा पिता तूंहै मेरा माता॥
तूं मेरा बंधप तूं मेरा भ्राता॥
तूं मेरा राखा सभनी थाई ता भउ केहा काड़ा जीउ॥...
तूं मेरी ओट तूंहै मेरा माणा॥

आदि ग्रंथ

गुरु साहिब की ये पंक्तियाँ सिर्फ़ जज़्बातों का इज़हार ही नहीं हैं। यह परमात्मा के लिए आत्मा के प्रेम का इकरार और समर्पण है। संत-महात्माओं के लिए परमात्मा कोई ऐसी अज्ञात शक्ति नहीं है जो उनसे बहुत दूर है बल्कि उनके लिए परमात्मा अमर-अविनाशी सत्य है जो हर प्राणी के भीतर मौजूद है। उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ी भाषा के कवि लॉर्ड टेनीसन लिखते हैं, "वह परमात्मा हमारी साँसों से भी ज़्यादा क़रीब है और हमारे हाथों-पैरों से भी अधिक नज़दीक है।" अगर परमात्मा हमारे इतना नज़दीक है तो फिर हमें इस बात का एहसास क्यों नहीं है? संत-महात्मा समझाते हैं कि चाहे हमारी आत्मा ऊँचे रूहानी मंडल 'सचखंड' से आई है पर यह दुनिया के प्रलोभनों में फँसकर अपने मूल स्रोत को भूल गई है।

गुरु अर्जन देव जी की ये पंक्तियाँ आत्मा की सच्ची पुकार है जो अपने निज-धाम को याद करती है और वापस अपने अमर-अविनाशी स्रोत में समाना चाहती है। आत्मा यह इकरार निराशा के कारण नहीं बल्कि अंतर्दृष्टि के कारण करती है। जब आत्मा अंतर्मुख हो जाती है और जान जाती है कि इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है-न रिश्ते-नाते, न रुतबा, न उपलब्धियाँ और न ही ज़मीन-जायदाद-तब यह परमात्मा को ही अपना एकमात्र सच्चा साथी और अनादि पिता मानने लगती है। ऐसी सूझ से दृष्टिकोण में ज़बरदस्त बदलाव आता है। जिस प्यार, सहारे, मार्गदर्शन, ज्ञान, सुरक्षा को हम बाहर ढूँढ़ते हैं, वह पहले से ही सबसे निर्मल और स्थायी रूप में हमारे भीतर मौजूद है।

इस बात का एहसास कि जिसे हम बाहर ढूँढ़ रहे थे, वह सब हमारे अंदर ही था, हमें देहधारी सतगुरु द्वारा बख़्शे गए भजन-सिमरन के अभ्यास द्वारा होता है। जैसे अनजान जगह पर भटके हुए यात्री को किसी मार्गदर्शक की ज़रूरत होती है जिसे वहाँ का रास्ता मालूम हो, वैसे ही हमारी आत्मा को भी किसी ऐसे मार्गदर्शक की ज़रूरत होती है जो पहले से ही वह आंतरिक सफ़र तय कर चुका हो और निज-घर की राह भी बता सकता हो। सतगुरु ही वह मार्गदर्शक हैं।

नामदान के समय, सतगुरु भजन-सिमरन के अभ्यास का तरीक़ा समझाते हैं जिससे आत्मा उस स्थायी सुख का अनुभव करने के योग्य बन जाती है जो इस संसार में नहीं बल्कि आत्मा को अमर-अविनाशी शब्द-धुन से जोड़कर ही मिल सकता है। यह बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि यह तो दिल से महसूस किया जानेवाला गहरा अनुभव है। शब्द-धुन में लीन होकर, आत्मा परमात्मा के प्रेम और अपनेपन को महसूस करने लगती है और इसे उस शाश्वत आनंद का अनुभव होने लगता है जिसे यह बहुत लंबे समय से बाहर ढूँढ़ रही थी।

पूर्ण भरोसे के साथ सतगुरु के उपदेश का पालन करने से, शिष्य अंधकार से प्रकाश की ओर अथवा भ्रम से सत्य की ओर बढ़ने लग जाता है। जहाँ एक तरफ़ संसार के रिश्ते अस्थायी होते हैं और सुख चलायमान, वहीं दूसरी तरफ़ सतगुरु आत्मा को उसके अनादि-अविनाशी घर लौटने का रास्ता दिखाते हैं। जैसे काँच से ढकी मोमबत्ती को हवा नहीं बुझा सकती, वैसे ही भजन-सिमरन और सतगुरु की दया-मेहर के दायरे में आई हमारी आत्मा जीवन के तूफ़ानों व संकटों से घबराती नहीं, बल्कि दृढ़ता से आगे बढ़ती रहती है।

जब आत्मा को हर प्राणी में परमात्मा दिखाई देने लग जाता है तब हम पहले से अधिक कृतज्ञ हो जाते हैं और हमारे अंदर का डर व संशय कम होते जाते हैं। तब हर रिश्ता पवित्र बन जाता है क्योंकि फिर सब कुछ उस रचयिता का ही रूप प्रतीत होता है। जैसे-जैसे आत्मा परम शक्ति के प्रति अधिक जागरूक होने लगती है, गुरु अर्जन देव जी की बानी की ऊपर दी गई पंक्तियाँ जीवन के तूफ़ानों का सामना करने में मज़बूत सहारे का काम करती हैं। पीड़ा, हानि और बदलाव मनुष्य जीवन के अभिन्न अंग हैं। पर फिर ये सब आत्मा को विचलित नहीं कर सकते क्योंकि आत्मा उस परमात्मा रूपी परम सत्ता से जुड़ी होती है जिसका ज़िक्र लॉर्ड टेनीसन अपने एक सवाल में करते हैं, "जब आप हर जगह मेरे रखवाले बनकर मौजूद हैं तो मुझे किसी बात का डर या चिंता कैसे हो सकती है?"

सतगुरु अकसर हमें याद दिलाते रहते हैं कि मालिक की दया-मेहर हर समय हो रही है। भजन-सिमरन के ज़रिए हमें इस दया-मेहर का एहसास होने लगता है। भरोसा सिर्फ़ दलीलों से नहीं बल्कि प्रत्यक्ष आंतरिक अनुभव से गहरा होता है। जब भजन-सिमरन हमारी आत्मा का आधार बन जाता है तब हमें सुख और दुःख दोनों में परमात्मा की रज़ा दिखाई देने लगती है और हम विचलित हुए बिना शांति से ज़िंदगी बिताते हैं। भरोसा जो पहले सिर्फ़ एक विचार था, अब एहसास और अनुभव में बदल जाता है जिसका आधार कोई मान्यता नहीं बल्कि अंतर में आत्मा का परमात्मा से मिलाप है।

सिमरन

जिसका भी हम सिमरन करते हैं, मन उनकी शक्लें हमारे सामने ले आता है। मिसाल के तौर पर, जब हम बेटे-बेटियों का सिमरन करते हैं तब उनकी शक्लें हमारी आँखों के सामने आ जाती हैं। इसे 'ध्यान करना' कहा जाता है। इस संसार के नाशवान् शक्लो-पदार्थ के सिमरन और ध्यान के कारण हम सदा इस रचना का हिस्सा बने रहते हैं और आवागमन के चक्कर में पड़कर दुःख भोगते रहते हैं।

संत-महात्मा समझाते हैं कि हम किस तरह मन की इस आदत से लाभ उठा सकते हैं। परमात्मा के नाम का सिमरन, दुनियावी सिमरन की जगह ले लेता है और सतगुरु का ध्यान, दुनियावी ध्यान को काटता है। जब हम परमात्मा के नाम के सिमरन और ध्यान द्वारा ख़याल को तीसरे तिल पर इकट्ठा कर लेते हैं तो हम मन की नीचे और बाहर की ओर फैलने की प्रवृत्ति पर रोक लगा देते हैं जिससे यह स्थिर हो जाता है। तब नाम की ध्वनि और प्रकाश के सहारे हम अपना आंतरिक रूहानी सफ़र तय कर सकते हैं।

नाम एसेंस ऑफ़ स्पिरिचुएलिटी

क्या आप प्याले से नाम रूपी दिव्य अमृत पी रहे हैं?

जब आप इस लेख का शीर्षक देखेंगे, आप शायद ख़ुद से पूछें कि दिव्य अमृत का आपसे क्या लेना-देना है। यह वाक्य शायद आपको प्राचीन यूनानी कहानियों की याद दिलाए जिसमें अमृत एक जादुई पेय था जिसे पीकर इनसान अमर हो जाता था। पर क्या दिव्य अमृत सिर्फ़ एक काल्पनिक विचार है या इन कहानियों के लेखक किसी गहरे रूहानी सत्य की ओर इशारा कर रहे थे? अगर यह सच है, तो यह क्या है? जब कोई इसका अनुभव करता है तब क्या होता है? सबसे अहम बात, क्या यह आपके भीतर पहले से ही मौजूद है?

संत-महात्मा समझाते हैं कि दिव्य अमृत कोई ऐसा पेय नहीं है जिसे आप किसी गिलास में उड़ेल सकते हैं बल्कि यह परमात्मा की रचनात्मक शक्ति है जिसके कई नाम हैं जैसे शब्द, नाम या लॉगॉस। यह ऐसी दिव्य शक्ति है जिसने सब कुछ रचा है और जो सारी सृष्टि का आधार है। जब कोई भजन-सिमरन के ज़रिए इससे जुड़ता है तो इसका अनुभव इतना गहन होता है कि प्राचीन लेखक इसकी तुलना अमृत से करते हैं। मगर यह विचार किसी कल्पना या रूपक से कहीं बढ़कर है। संत-महात्मा समझाते हैं कि जब आत्मा 'शब्द' से जुड़ती है तब शब्द अहं का नाश करके, आत्मा को दिव्य प्रेम से सराबोर कर देता है और इसे जन्म-मरण के चक्कर से हमेशा के लिए मुक्त कर देता है और यह अमर हो जाती है। तीसरी पातशाही गुरु अमरदास जी की बानी है:

अंम्रित साचा नाम है कहणा कछू न जाइ॥
पीवत हू परवाण भइआ पूरै सबद समाइ॥

आदि ग्रन्थ

अगर 'शब्द' दिव्य अमृत है तो प्याला क्या है? संत-महात्मा समझाते हैं कि यह हृदय रूपी कोठरी है। सिर्फ़ मनुष्य-जामे में ही हमारी आत्मा उस अमृत की खोज कर सकती है और अंतर्मुख होकर अपने रूहानी स्रोत तक का सफ़र तय कर सकती है। इस प्याले में से अमृत पीने के लिए हमें मनुष्य-जामे की अहमियत को समझकर उस रूहानी मक़सद को पूरा करना है जिसके लिए यह मिला है। वह मक़सद है: प्याले को साफ़ करना ताकि इसे भरा जा सके।

यह समझने के लिए कि यह पात्र यानी मनुष्य-जामा इतना दुर्लभ और अनमोल क्यों है, हमें सिर्फ़ अपने आस-पास देखने की ज़रूरत है। इस दुनिया में अलग-अलग तरह के कितने ही जीव हैं जब तक कोई किसी ख़ास मक़सद से गहराई में जाकर अध्ययन नहीं करता तब तक उसका इस ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता। संत-महात्मा समझाते हैं कि धरती पर चौरासी लाख योनियाँ हैं। चूँकि यह संख्या अलग-अलग जीवों और पेड़-पौधों के बजाय श्रेणियों की ओर इशारा करती हैं, कुल जीवित प्राणियों की संख्या गिनती से भी परे है। यहाँ तक कि प्रजातियों की गिनती कर पाना भी बहुत मुश्किल है क्योंकि एक ही प्रजाति के अंतर्गत कई उपप्रजातियाँ शामिल हैं। उदाहरण के लिए, चींटियों का संबंध 'फ़ोरमिसिडाए' नामक कुल से है, सिर्फ़ इस कुल में ही चींटियों की हज़ारों प्रजातियाँ शामिल हैं।

संत-महात्मा समझाते हैं कि परमात्मा की रचनात्मक शक्ति 'शब्द' हरेक चीज़ में मौजूद है, सृष्टि का एक भी कण इससे ख़ाली नहीं है। इसका भाव है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव से लेकर सबसे विशाल प्राणी तक हरेक जीव के अंदर आत्मा है। हालाँकि, इन अनगिनत प्रकार के जीवों में से केवल मनुष्य-जामे में ही आत्मा जागृत होकर शब्द से जुड़कर मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्त हो सकती है। इसलिए, मनुष्य-जन्म दुर्लभ ही नहीं बल्कि रूहानी दृष्टि से अनमोल है। संत-महात्मा समझाते हैं कि आत्मा को मनुष्य के रूप में जन्म लेने से पहले चौरासी लाख योनियों में से गुज़रना

पड़ता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि मनुष्य-जीवन सिर्फ़ एक जैविक घटना ही नहीं है बल्कि एक अहम रूहानी पड़ाव है जिसके महत्त्व को लफ़्ज़ों में बयान नहीं किया जा सकता। महाराज सावन सिंह जी *परमार्थी पत्र, भाग2* में फ़रमाते हैं:

इनसान और उससे नीचे की योनियों में यही फ़र्क़ है कि इनसान का जामा परमात्मा के दर्शन करने और इसी ज़िंदगी में ऊँचे से ऊँचे रूहानी दर्जे को प्राप्त करने के लिए दिया जाता है। इसका हरएक पल करोड़ों रुपयों के बराबर है।

संत-महात्मा समझाते हैं कि मनुष्य-जन्म तब वरदान बनता है जब हम इसका इस्तेमाल परमात्मा से मिलाप करने के लिए करते हैं क्योंकि सिर्फ़ तभी हम नाम के दिव्य अमृत को पी सकते हैं। हालाँकि, हम बहिर्मुखी होकर दुनिया की ऐशो-इशरत में सारा समय व्यर्थ गँवा देते हैं। जब हमारा ध्यान पूरी तरह से अंदर एकाग्र हो जाता है तब हमारा प्याला भरता है अन्यथा हम इसकी मिठास से वंचित ही रहते हैं।

पाँचवीं पातशाही गुरु अर्जन देव जी की बानी से हमें प्रेरणा मिलती है:

अंम्रित नाम निधान है मिल पीवहो भाई॥
जिस सिमरत सुख पाईऐ सभ तिखा बुझाई॥
आदि ग्रन्थ

गुरु अर्जन देव जी समझाते हैं कि वह अमृत जिसे हम खोज रहे हैं, वह कहीं दूर नहीं है या हमारी पहुँच से बाहर नहीं है। यह तो पहले से ही हमारे अंदर है पर इसका अनुभव करने के लिए, हमें नामदान के समय बताए हुए चारों उसूलों का पालन ज़िंदगी-भर करना पड़ेगा। पहला, हमें शुद्ध शाकाहारी भोजन जिसमें दूध और दूध से बने पदार्थ भी शामिल हैं, अपनाना है। हमें माँस, मछली, अण्डों इत्यादि से परहेज़ करना है। दूसरा, हमें शराब या अन्य मादक पदार्थों का सेवन नहीं करना है क्योंकि रूहानी

तरक़्क़ी के लिए मन का निश्चल और निर्मल होना ज़रूरी है। तीसरा, हमें नैतिक जीवन जीना है। हमें ईमानदार और दयालु बनना है। इन उसूलों का पालन करने से हम अपने विचारों एवं कर्मों को नियंत्रण में रख सकते हैं और ये तीनों चौथे उसूल भाव भजन-सिमरन की नींव बनते हैं। देहधारी सतगुरु के मार्गदर्शन में नियमित रूप से किया गया भजन-सिमरन मन को निर्मल करता है। इन सभी सिद्धांतों का जीवन-भर पालन करने से हम सहज ही उस नाम रूपी अमृत के प्रति जागरूक हो जाएँगे जो पहले से ही हम सबके भीतर मौजूद है।

चाहे हमें मार्ग के बारे में समझा दिया गया है फिर भी संत-महात्मा चेतावनी देते हैं कि मार्ग के बारे में जान लेना ही मार्ग पर चलना नहीं है। संत भीखा जी हमें गहराई से विचार करने के लिए कहते हैं कि हमारा क्या दाँव पर लगा है:

अनहद नाद गगन घहरानो, आबुस समय जनावत।*
हेइ होउ† आजु कालि दिन बीतत, भ्रम बसि चेत न आवत॥

भीखा साहब की बानी

क्या दिव्य अमृत केवल काल्पनिक विचार है? संत-महात्मा समझाते हैं कि यह सत्य है। यह शब्द है, परमात्मा की रचनात्मक शक्ति है जो सबके भीतर बहती है। हम इसे पहचानने में चूक जाते हैं क्योंकि हम दुनिया के भ्रम में फँसे रहते हैं इसलिए हमारी अंतर्दृष्टि स्पष्ट नहीं होती। हम नामदान के समय देहधारी सतगुरु द्वारा बख़्शे गए भजन-सिमरन द्वारा ही इस तक पहुँच सकते हैं। संत दादू दयाल जी हमें याद दिलाते हैं:

जिन बिष खाया ते मुए, अमर अमी सौं होइ।

दादू दयाल की बानी

---

* ज़िंदगी।

† इस और उस काम में।

यह प्याला रूहानी हृदय रूपी कोठरी है जो तीसरे तिल में स्थित है। अमृत पहले से ही हमारे भीतर मौजूद है और सतगुरु ने इसे प्राप्त करने की युक्ति बता दी है। अब यह हम पर निर्भर करता है कि हम इसका अभ्यास करके, सतगुरु के बताए हुए उसूलों पर चलकर अपने हृदय को निर्मल करें। ताकि उनकी दया-मेहर से, आख़िरकार हमारा प्याला भी उस नाम रूपी दिव्य अमृत से भर जाए और हमारी प्यास हमेशा-हमेशा के लिए बुझ जाए।



हमारी असीम क्षमता

जितनी शिद्दत से हम अपने दुनियावी कामों को करते हैं, अपने आंतरिक रूहानी सफ़र को तय करने के लिए भी हममें उतनी ही शिद्दत होनी चाहिए। अपने छिपे हुए सामर्थ्य को पहचानने के मार्ग में बाधाएँ आ सकती हैं और हमें तनाव भी हो सकता है। मगर, जैसे-जैसे हम भीतर की गहराइयों में उतरते हैं, हमें एहसास होने लगता है कि हमारा असल वजूद हमारी कल्पना से कहीं परे है। यह सफ़र आसान नहीं है, ख़ासकर इसलिए क्योंकि यह हमारे द्वारा पहले तय किए गए किसी भी सफ़र से बिलकुल अलग है। किसी दूसरे का अनुभव हमें प्रेरित कर सकता है लेकिन यह कैसा होता है हम इसे तब तक महसूस नहीं कर सकते जब तक हम अपने अंदर नहीं जाते और अपने सामर्थ्य को नहीं जान लेते।

हम दुनिया के बारे में तो बहुत कुछ जानते हैं लेकिन क्या हम असल में ख़ुद को जानते हैं? हम यह तो मानते हैं कि जीवित रहने के लिए खाना, सोना और पैसे कमाना ज़रूरी है। हम ये सारे दुनियावी काम ख़ुद-ब-ख़ुद करते हैं बिना यह सवाल किए कि क्या जीवन में इससे बढ़कर भी कुछ है? यहाँ तक कि जब हम अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी से हटकर कुछ करना चाहते हैं तब भी हमारा ध्यान दुनियावी पदार्थों की तरफ़ जाता है; हमारा मक़सद कुछ ऐसा करना होता है जो पहले कभी किसी ने न किया हो, हम सबसे अधिक धन-दौलत कमाना चाहते हैं; सबसे अधिक संपत्ति के मालिक बनना चाहते हैं। इसके अलावा हम सामाजिक मेल-जोल बढ़ाना चाहते हैं और दुनिया का हर ऐशो-आराम को भोगना चाहते हैं। लेकिन यह सब किस लिए? मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा सच है। मृत्यु के साथ ही वह सब कुछ ख़त्म हो जाता है जिसे हमने इकट्ठा किया था। हमने जीवन में जो कुछ भी कमाया या इकट्ठा किया होता है वह सब कुछ मृत्यु के वक़्त पीछे छूट जाता हैं। हम सब ने अकसर लोगों को यह कहते सुना है: "तुम्हारे साथ कुछ नहीं जाएगा।" लेकिन यह 'तुम' कौन है और तुम कहाँ जाओगे?

ये सवाल हमारा ध्यान अंदर की ओर मोड़ते हैं। कवि कोलमेन बार्क्स द्वारा प्रस्तुत एक कविता में मौलाना रूम कहते हैं: "दूसरों के साथ क्या हुआ, सिर्फ़ उन कहानियों से संतुष्ट मत होना। अपनी ख़ुद की कहानी को जानना।" अतीत और वर्तमान में हुए संत-महात्मा हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि हमारा असल स्वरूप आत्मा है जो मानवीय जीवन का अनुभव कर रही है। इस बात को मानना थोड़ा मुश्किल लगता है क्योंकि हम हमेशा से यही मानते आए हैं कि शरीर और मन ही असल हैं। लेकिन 'आत्मा' का क्या जिसके बारे में कहा जाता है कि यह उसी परमात्मा का अंश है जिससे सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है?

संत-महात्माओं ने इन सवालों को सिर्फ़ पूछा नहीं है बल्कि वे अपने निजी अनुभव के आधार पर इनका जवाब भी देते हैं। उन्होंने एक ऐसी संभावना पर रोशनी डाली है जिसकी कल्पना हम सपने में भी नहीं कर सकते: ख़ुद की पहचान द्वारा परमात्मा की पहचान करना।

महाराज जगत सिंह जी *आत्म-ज्ञान* में फ़रमाते हैं:

> *'जो ब्रहमंडे सोई पिंडे', अर्थात् सूक्ष्म रूप में सारा ब्रह्मांड हमारे अंदर है। वह सृष्टिकर्ता भी इस शरीर में ही बैठा है। आप तीसरे तिल पर पहुँचकर अपने शरीर के अंदर जाकर संपूर्ण ब्रह्मांड और उसकी सब वस्तुओं का पूरा दृश्य साफ़-साफ़ देख सकते हैं।*

यदि हमारे अंदर ऐसी शानदार संभावना मौजूद है तो उसे हक़ीक़त में बदलना इतना आसान क्यों नहीं है? क्योंकि जिस तरह हम इस दुनिया में जीवित रहने के लिए भरपूर कोशिश करते हैं उसी तरह हमें अपने अंदर की ओर रुख़ करने के लिए पूरी कोशिश करनी पड़ती है। कोई भी क़ीमती चीज़ निरंतर कोशिश किए बिना नहीं मिलती - *आत्म-ज्ञान* (ख़ुद को पहचानना) तो बिलकुल भी नहीं।

इस सारी चर्चा का सार यह है कि हम दिल से अपने वचनों पर दृढ़ रहें। जिस तरह दुनिया में सफल होने के लिए हम सालों-साल अपनी पूरी

ताक़त लगाकर कड़ी मेहनत करते रहते हैं उसी निष्ठा के साथ हमें अंदरूनी रूहानी सफ़र के लिए कोशिश करनी होगी। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि इस सफ़र में की गई कोशिश द्वारा हमारी आत्मा का हमेशा के लिए भला होता है जबकि संसार की किसी वस्तु को हासिल करने के लिए जी-जान से की गई कोशिश के बावजूद वह वस्तु साथ नहीं जाती। ज़रा इस बात पर ग़ौर करें: हम औसतन पंद्रह से बीस वर्ष शिक्षा प्राप्त करने में लगा देते हैं और उसके बाद भी थोड़ा-सा परिपक्व होने में दस से पंद्रह वर्ष और बीत जाते हैं। इतना लंबा समय बीत जाने के बाद भी हममें से बहुत कम लोग यह दावा कर सकते हैं कि वे जीवन को पूरी तरह समझ पाए हैं। इस सबसे केवल एक नींव बनी है ताकि हम आगे सीखते रहें। जब बाहर का सफ़र इतना लंबा है तो फिर हम यह अपेक्षा क्यों करते हैं कि अंदरूनी सफ़र इससे छोटा होगा? ख़ुद की पहचान करने के लिए भी इतने ही समय, प्रतिबद्धता, धैर्य और इस प्रक्रिया पर विश्वास करने की ज़रूरत है।

नामदान के समय, हमने यह वायदा किया था कि हम अपना बाक़ी का जीवन रोज़ाना ढाई घंटे भजन-सिमरन करने में लगाएँगे। लेकिन उस समय किए गए इस वायदे को पूरा करना अब हमें ज़्यादा मुश्किल लगता है। हम अपने सामर्थ्य को कभी भी पहचान नहीं पाते मगर सतगुरु पहचानते हैं। वह वे सब देख पाते हैं जो हम नहीं देख पाते कि हमारी क्षमता असीम है।

अंतिम शब्द
अखंड नाम साधना है

याद प्रभु की आती रहे, अजपा-जाप चलता रहे,
सिमरन नाम का करते-करते, हो जाएगा मन शांत ये।

सुबह शाम हो या दोपहर, नितनेम से दिनभर,
सिमरन नाम का हर पल करते रहें हम।

सुख हो या फिर दुख हो साथ, शुभ अवसर हो या हो अशुभ,
समय हो आराम का या फिर हो रात, चलता रहे नाम का जाप।

चलते-फिरते, करते हुए काम, खाते, पीते या करते हुए आराम,
नाना भोग भोगते हुए, बिसर न जाए प्रभु का नाम।

सुख हो या हो संकट का दौर, कैसा भी हो समय का फेर,
कुछ भी हो छूट न जाए, करो निरंतर नाम का जाप।

बचपन हो या आए जवानी, हो बुढ़ापा या फिर कोई परेशानी,
जीवन भर भी और अंत समय भी, चलता रहे नाम का जाप।

करते रहो नाम का जाप, देह का पुण्य यही तू जान,
पर्वत जैसे दोष महान, काटे सहज ही राम-नाम।

चारों वर्ण हैं नाम के अधिकारी, छोटा या बड़ा नहीं है नामी।
मूर्ख भी हो जाए पार, मिल जाए जो नाम का आधार।

स्वर अनेक, गीत एक